

सोचने पे पहरा है!

सोचने पे पहरा है!

अखलाक 'आहन'

सोचने पे पहरा है!
© अख़लाक़ 'आहन'

प्रकाशक

नयी किताब
1/11829, प्रथम मंजिल, पंचशील गार्डन,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032
nayeekitab@gmail.com

मूल्य : 000.00 रुपये
आवरण सज्जा : क्वालिटी प्रिन्टर्स, दिल्ली

प्रथम संस्करण : ...

मुद्रक : क्वालिटी ऑफ़सेट, दिल्ली-110032

SOCHNE PE PAHRA HAI
by Akhlaq 'Ahan'
First Edition : 2014

Price : Rs. 000.00
ISBN : 978-93-----

मणीन्द्र जी
क्रियेटिव सोशल रिसर्च के साथी
और
उन तमाम जाने-माने और गुमनाम लोगों
के नाम
जो जुल्म, नाइंसाफी, फासीवाद, झूठ, ढोंग,
बौद्धिक और वैचारिक फक्कड़पन और अन्धकार के हर रूप
को मिटाने के लिए सच्चाई, उम्मीद और हौसले की मशालें लिए
चलते रहे और आज भी चल रहे हैं!
—अख़लाक़ 'आहन'

दो शब्द

जिन दिनों मैं दिल्ली विश्वविद्यालय छोड़ कर जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय आया था, बेहद उदास रहता था। ऐसा लगता था कि समन्दर से तालाब में आ गया हूँ। और पानी में कुछ बहाव नहीं था, एक जैसे लोग, एक जैसी बातें, आधुनिकता के आगोश में डूबा-सा गाँव जहाँ सहजता केवल ऊपरी जामे की तरह लिपटी सी लगती थी। ऐसा लगता था कि हर जगह कई अजनबी आँखें घूर रही हों। सब कुछ असहज था। ऐसे में मेरा मन समाजशास्त्रीय ज्ञान और उसके ज्ञाताओं के प्रति विमुख सा हो गया। उनका ज्ञान, उनका दर्शन, उनका जीवन दर्शन, उनकी आकांक्षाएं, उनका प्रतियोगी स्वभाव, सबकुछ के प्रति गहरी अरुचि पैदा हो गयी। अपने समाजशास्त्री होने की अस्मिता से धीरे-धीरे मुक्त हो गया और दर्शन और साहित्य की शरण में गया। शायद अपने को बचाने का यह मनोवैज्ञानिक तरीका रहा हो। इसी दौरान संस्कृत, हिंदी और फारसी के कुछ विद्वानों से दोस्ती हो गयी। उनमें अख़लाक़ 'आहन' भी एक हैं। सुबह शाम के टहलने के दौरान एक दूसरे के विचारों से अवगत होने का सिलसिला शुरू हुआ। मेरे लिए तो ज्ञान के तीन नए क्षेत्र खुल गए थे। खूब आनंद आने लगा। दिल्ली विश्वविद्यालय के जिन विचारों का पोथा अपने साथ समेट कर लाया था उसे 'फाउंडेशन फॉर क्रिएटिव रिसर्च' का नाम दे दिया। कुछ पुराने कुछ नए दोस्तों के साथ मिल कर उसके बिखरे पन्नों को फिर समेटने लगा था।

इन्हीं दिनों अख़लाक़ साहब ने अपनी कविता 'सोचने पे पहरा है!'

सुनाई और बताया कि इसकी रचना के पीछे हमलोगों की उन बहसों का योगदान भी है जिसे हम अपने 'क्रिएटिव थ्योरी' के नाम पर किया करते थे। इन नज़्मों ने मेरे इस विचार को पुख्ता कर दिया कि भाषा और साहित्य की विधा तो ज्ञान का माध्यम मात्र है। हम चाहें इसे जिस भाषा और विधा में लिखें महत्व तो उस ज्ञान का है जो उसमें संप्रेषित हो रहा है। यह बात मेरे ज़ेहन में पूरी तरह से उतर गयी कि भाषा और विधा को लेकर समाजशास्त्रियों का दंभ निरर्थक है। फिर तो मेरे लिए नयी दुनिया ही खुल गयी। साहित्यकारों को दुबारा नयी दृष्टि से पढ़ने लगा। महादेवी, निराला, हजारी प्रसाद द्विवेदी, दिनकर, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, प्रसाद, इन सबको मैंने साहित्य के आनन्द के लिए बचपन में पढ़ा था। अख़लाक़ साहब की इस कविता ने मेरे लिए समाजशास्त्र और साहित्य के बीच एक पुल बना दिया। कविताएँ मैंने पहले भी पढ़ी थीं, लेकिन अब उन्हें केवल रसपान के लिए पढ़ने के बदले उसमें सामाजिक सत्य खोजने लगा।

मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' को फिर से पढ़ा। लोगों का दुःख और व्यवस्था को जिस चरमराहट को समाजशास्त्र नहीं सुन पाया था मुक्तिबोध ने संवेदना और ज्ञान दोनों स्तरों पर हमें परोस दिया था। मुक्तिबोध को जो कुछ अँधेरे में दिख रहा था अख़लाक़ 'आहन' को दिन के उजाले में दिखने लगा। मुक्तिबोध इस सबकुछ को कहने के लिए फंतासी का सहारा लेते हैं, सपने में चीजें साफ नहीं दिखती हैं। लेकिन अख़लाक़ बेबाकी से समाज की परत-दर-परत को खोलते हैं। धर्म, राजनीति, विश्वविद्यालय, न्यायालय सब की खबर लेते हैं। फिर सवाल करते हैं कि व्यवस्था कब बदलेगी। अख़लाक़ 'आहन' की यही बैचेनी 'क्रिएटिव थ्योरी' के दोस्तों की बैचेनी है। मुक्तिबोध की इन पंक्तियों को देखें :

चेहरे वे मेरे जाने-बूझे से-लगते,
उनके चित्र समाचार-पत्रों में छपे थे,
उनके लेख देखे थे,
यहाँ तक कि कविताएँ पढ़ी थीं,
भाई वह!

उनमें कई प्रकांड आलोचक, विचारक, जगमगाते कविगण
मंत्री भी, उद्योगपति और विद्वान्
यहाँ तक कि शहर का हत्यारा कुख्यात
डोमाजी उस्ताद बनता है बलवान हाय, हाय!!
यहाँ ये दिखते हैं भूत-पिशाच-काय।
भीतर का राक्षसी-स्वार्थ अब साफ उभर आया है,
छुपे हुए उद्देश्य यहाँ निखर आये हैं,
यह शोभा-यात्रा है किसी मृत्यु-दल की।

मुक्तिबोध बुद्धिजीवियों के प्रति थोड़े सहृदय हैं, उनके भीतर का राक्षसी-स्वार्थ का उन्हें केवल आभास मात्र होता है। ऐसा होने का उन्हें विश्वास नहीं होता है। अख़लाक़ को केवल बुद्धिजीवियों की सीमाएँ नज़र नहीं आ रही हैं बल्कि इन आधुनिक संस्थाओं में भी अँधेरा दिखता है :

जो अमीने-दानिश हैं
इल्म की विरासत के
ज्ञान के धरोहर के
उनके मग़ज खाली हैं
सोच के अनासिर से
भर गई हवा उस में
खारिजी हवाओं की
जिस को कुछ समझते हैं
और नशे में उस के ही
मस्त-मस्त रहते हैं
क्या बताऊँ क्या हालत
हो गई है विज्दां की
ज़र्फ़ की ज़राफ़त की
सदियों की विरासत की
क्या कहूँ कि कहने में
इक ज़रा सा पर्दा है
सोचने पे पहरा है!

मुक्तिबोध से अखलाक 'आहन' तक की यात्रा ही हमारे प्रजातंत्र का इतिहास है, हमारा विकास का मॉडल है। जिसमें व्यवस्था आगे बढ़ती जा रही है और लोग पीछे छूटते जा रहे हैं। व्यवस्था के इस मॉडल के एक-एक हिस्से की खबर लेने के बाद अखलाक आम लोगों के मानसिक दिवालियेपन पर भी नज़र डालते हैं :

हम गुलामे-तन होकर
बन गए हैं इक क़ैदी
जागते भी, सोते भी
ख़्वाबों और ख़्वालों में
ख़्वाहिशों के जमघट और
चाहतों के महवर का
ज़ाहिरी तमाशों का
ये समाज, ये दुनिया
इन की रीत और रस्में
झूठ के अनासिर से
ये बनी हुई कदरें
उन की कोख से निकलीं
तेरी-मेरी ये फ़िक्रें
मकड़ियों के जाले हैं?

उनकी कोख से निकले इन मकड़ियों के जालों को ही प्रसिद्ध मार्क्सवादी चिन्तक ग्राम्शी ने 'हेजेमनी' का नाम दिया है। इन जालों से आम आदमी निकल नहीं पाता है और शायद उसके ताने-बाने को समझ भी नहीं पाता है। गांधी और अम्बेदकर जैसे चिंतकों ने मकड़ियों के इन्हीं जालों को काटने का काम किया था। मुक्तिबोध अपने समय में इसे महसूस तो करते थे लेकिन शायद इसका ताना-बाना इतना साफ नज़र नहीं आता था। उनकी इन पंक्तियों पर गौर करें :

जब अहमियत कुल खो गयी
इंसानियत ही हो गयी जब फ़ना

जब जिस्म खाली ही रहा

वह हँस रहा, वह खा रहा,

वह वासना ही पी रहा (मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ. 424)

मुक्तिबोध आत्मनिंदा के भाव से गुजरते हैं और उभरते मूल्यहीनता के लक्षणों को समझने की कोशिश करते हैं तो अखलाक उसे साफ तौर पर हमारे मनुष्यत्व पर व्यवस्था के कुप्रभाव को समझ पा रहे हैं। यह शायद उनके समय का अंतर है या फिर अपने-अपने सामाजिक संबंधों से उपजे अनुभवों का लेखा-जोखा है।

एरिक फ्राम और युंग जैसे मनोवैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों और दार्शनिकों ने भी आधुनिक समाज में पनप रहे इस खालीपन के बारे में बताया है। लेकिन साहित्यकारों के पास यह सुविधा है कि विश्लेषण से आगे जाकर वे इसके खिलाफ़ विद्रोह का आह्वाहन कर सकें। मुक्तिबोध, दिनकर, अखलाक 'आहन' जैसे क्रांतिकारी कवियों के लिए यह कहना संभव है कि वे केवल निराश विश्लेषण नहीं करते हैं, बल्कि परिवर्तन का आगाज़ करते हैं। मुक्तिबोध को देखें :

इतिहास तुम्हारी छाती में घुमड़न बनकर

मेरी आँखों में दृश्य बना नूतन दिन का

हे उत्तराधिकारी, तुम ब्रह्मांडों के

भावी शासक, तुममें सौरभ है चन्दन का।

(मु. बो. र., पृष्ठ 424)

इसी बात को रामधारी सिंह दिनकर 'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है' के अंदाज़ में कहते हैं, तो अखलाक 'आहन' इस अंदाज़ में कहते हैं :

तोड़ सारे बंधन को

जोड़-जोड़ दस्तो-सर

जागने का वक्त आया

रास्ता ये तेरा है

बस यही वसीला है।

बुद्धिजीवियों द्वारा आह्वान की यह स्वतंत्रता केवल साहित्यकारों को है। समाजशास्त्रियों को तो केवल वस्तुपरकता की ही चिन्ता रहती है। ज्ञान तर्कों के बोझ तले मानवीय संवेदनाएं दब जाती हैं। अखलाक के आह्वान में केवल मुक्तिबोध का आत्ममंथन ही नहीं है बल्कि हबीब जालिब की तरह 'मैं नहीं मानता' के अंदाज़ में आवाम को पैग़ाम देते हैं कि 'बदल दो इस निज़ाम को' :

मेरी नज़र में बस यही, उखाड़ दें बिसात को
पछाड़ दें गुरुर को, निखार दें निशात को
चलो-चलो ये वक्त है बदल दें सब निज़ाम को
ये जुल्मों के राज को, नहूसों के जाम को
ये वहशतों के, ज़ब्र के, निराज के ख़राम को
ये इनके चलते-फिरते सामराज के निज़ाम को
चलो चलो बदल तो दें ये जुल्म के निज़ाम को
चलो चलो मसल तो दें ये ज़ब्र के ख़राम को

निज़ाम को बदलने का यह आग्रह आधारित है व्यवस्था की उनकी समझ पर। आवाम की बदहाली समाजशास्त्रियों को समझ में भले आ रही हो, उनके पास इस तरह के आग्रह करने की क्षमता या इच्छा शायद ही हो। नयी रौशनी की खोज का यह सपना देखनेवाले हर व्यक्ति के लिए रचनात्मक ऊर्जा ही एक सहारा है।

अखलाक के साथ लम्बी बातों के सिलसिले के बावजूद ऐसा कहना कठिन है कि मैं उनके सोच की गहराई में उतरा हूँ। इस संग्रह की उनकी कविताओं में उनके विचारों के कई ऐसे आयाम हैं जिन पर हमारी बातचीत अभी भी नहीं हो पाई है। धर्म, संस्कृति, सामाजिक परिवर्तन, परिवर्तन के लिए संघर्ष आदि न जाने कितने मुद्दों पर पिछले कई वर्षों में हमारी बातचीत हुई है, फिर भी महिला मुक्ति सन्दर्भ जो इस संग्रह में आया है मेरे लिए बिलकुल नया था। बहन और पत्नी के लिए जिस तरह की संवेदना उनके मन में है वह किसी मुक्तिकामी कवि के मानवीय अंतर्मन का परिचय देती है।

अखलाक 'आहन' और भाषा के अन्य दोस्तों को मैं अपने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्रवास की बड़ी उपलब्धि मानता हूँ। संस्कृत या फारसी केवल भाषा नहीं हैं, बल्कि ज्ञान की पूरी दुनिया हैं। कई बार राजनैतिक प्रतिस्पर्धा में ज्ञान के इन श्रोतों का भी राजनीतिकरण हो जाता है। मुक्तिकामी राजनीति के सृजनात्मक विमर्श के लिए आवश्यक है कि अनेक भाषाओं में उपलब्ध संवेदनात्मक मानवीय चिंतन के साथ भी संवाद किया जाये। समस्या है कि समाजशास्त्र अपनी भाषा और तर्क बुद्धि के मकड़जाल में फंस कर साहित्य और सृजनात्मक सोच के महत्व को भूल जाता है। उम्मीद है अखलाक 'आहन' की कविताओं का यह संग्रह न केवल साहित्य प्रेमियों, बुद्धिजीवियों और क्रांतिकारियों को प्रेरित करेगा; बल्कि आम लोगों की जुबाँ पर भी चढ़ कर बोलेगा।

—मणीन्द्र नाथ ठाकुर

(सामाजिक विज्ञान संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली)

manindrat@gmail.com

भूमिका

दिमाग पर कितना भी जोर डालूँ यह याद नहीं आता कि डॉ. अखलाक अहमद 'आहन' से कहाँ मुलाकात हुई, यह भी याद नहीं है की पहली मुलाकात को कितना अरसा बीत गया है। ऐसा लगता है कि बहुत पुरानी मुलाकात है, हालांकि ऐसा है नहीं, मगर यह एहसास पीछा नहीं छोड़ता कि मैं उन्हें एक अरसे से जानता हूँ, और शायद यही वजह है कि मैं काफी बे-तकलुफी से उनकी मसरूफीयात में खलल पैदा करता रहता हूँ, कभी फ़ारसी के किसी शे'र का मतलब समझने के लिए फोन कर दिया, कभी किसी क़व्वाल के फ़ारसी तल्लफ़ुज़ को दुरुस्त करवाने के लिए उन्हें हज़रत निज़ामुद्दीन ले गया, कभी किसी दोस्त को 'वह्दतुल्वजूद' और 'वह्दतुश-शुहूद' का फ़र्क समझने के लिए आहन साहेब के घर खाना कर दिया, वगैरह वगैरह।

इस सारी रूदाद के ज़रिये मैं जिस अम्र की तरफ इशारा कर रहा हूँ वो यह है कि उनके दरे-दौलत पर हुसूले-इल्म (विद्या-ग्रहण) की खातिर 'दस्ते-तम'अ दराज़' (लालसा का हाथ फैलाये) किये मुझे अक्सर देखा जा सकता है। हस्बे-मामूल, ऐसे ही किसी मक़सद से एक दिन मैं चन्द सवालात लेकर अखलाक साहब की ख़िदमत में हाज़िर हुआ था, अखलाक साहब कुछ लिख रहे थे, मैं मेज पर रखे हुए काग़जों को उलट-पलट कर देखने लगा, उन्हीं काग़जों में 'सोचने पे पहरा है' उन्वान से एक नज़्म पर नज़र पड़ी, मैंने पढ़ना शुरू कर दिया।

नज़्म में एक अंदरूनी लै थी, एक गुनायीयत थी, चन्द सुतूर (लाईनें) ही पढ़ी होंगी के नज़्म ने मजबूर किया कि जिस तरह से पढ़ रहा था वैसे

न पढ़ूँ बल्कि उसे उस लै से पढ़ूँ जिसमें वो लिखी गयी है। जो थोड़ी बहुत शा'इरी पढ़ने का इत्तेफाक हुआ है, उसमें तवील (वृहत्) नज़्में बहुत कम हैं, बचपन में नयाज़ हैदर की 'जमाले-मिस्र' पढ़ी थी, मसनवियों के कुछ हिस्से पढ़े थे, नज़ीर की कुछ निस्बतन लम्बी नज़्में पढ़ी थीं और साहिर की 'परछाईयाँ' भी, और तब से यह एहसास था कि कम-अज़-कम कुछ शा'इरी ऐसी होती है जिसमें अपनी एक मख़सूस लै और ताल होती है और इसीलिए उन्हें आप अपनी मर्ज़ी से किसी भी ढंग से किसी भी धुन में नहीं पढ़ सकते, 'सोचने पे पहरा है' एक ऐसी ही नज़्म लगी।

इस दौरान अख़लाक़ साहब, जो लिख रहे थे उस से फराग़त पाकर मेरी तरफ़ मुखातिब हुए, मैंने कहा 'बहुत अच्छी है', फरमाया, 'जी, बस हो गयी। कुछ मुन्तशिर (बिखरे) ख़यालात थे, उन्हें क़लमबंद करने की कोशिश में यह नज़्म हो गयी।'।

बहरहाल कुछ देर नज़्म पर बात हुई, उस सोच और नुक्ता-ए-नज़र का ज़िक्र हुआ जो इन मुन्तशिर ख़यालात का मुतहरिक (प्रेरक) था, फिर बात-चीत ने कोई दूसरा रुख़ ले लिया, कुछ देर बाद मैंने रुख़सत ली और चला आया।

कोई हफ़्ते-भर बाद एक अदद ईमेल मौसूल हुई, ईमेल अख़लाक़ साहब ने भेजी थी, हुक्म था, कुछ दोस्तों के इसरार पर 'सोचने पे पहरा है' की इशाअत (मुद्रण) का मंसूबा बन रहा है, उनका सुझाव है कि आप मुक़दमा (प्राक्कथन) लिख दीजिये।

ख़ुदा गवाह है 60 बरस की अपनी तवील ज़िन्दगी में कोई ऐसी हरकत दानिस्ता या ना-दानिस्ता तौर पर मुझ से सरज़द नहीं हुई है जो इस शुबहे की गुन्जाइश भी पैदा कर सके कि मैं मुक़दमा लिखने जैसे अमल का मुर्तकिब हो सकता हूँ। बावजूद इसके कि मैं अपनी ना-अहली का ऐलान अख़लाक़ साहब के सामने मुतादिद (कई) बार ब-बांगे-दुहल कर चुका हूँ, वो मुझे बख़्शने को तैयार नहीं हैं। चुनांचे अब भला-बुरा जो भी मैं रक़म करने (लिखने) वाला हूँ, उसकी तमामतर ज़िम्मेदारी अख़लाक़ साहब के ऊपर आयेद होगी, और क्यों न हो नज़्म भी उन्होंने ही लिखी है।

डॉ. अख़लाक़ अहमद 'आहन' के बारे में इन तआ'रुफी सुतूर को एक बार पढ़कर अगर आप के ज़ेहन में किसी बा-रीश क्रिस्म के संजीदा और उम्र-रसीदा बुजुर्ग की तस्वीर उभर रही है, तो उसे फौरन मिटा दें, डॉ. अख़लाक़ अहमद 'आहन' एक खुश-मिज़ाज नौजवान हैं। दर-असल उनके बारे में बात करते हुए ताज़ीम (आदर) का अंदाज़ जो न सिर्फ़ मैं बल्कि उनके बहुत से जानने वाले इख़्तियार कर लेते हैं, वो दर-असल इस नौजवान के अदबी और तख़लीकी (creative) कारनामों और ख़िदमात का एतराफ़ है, आप की मुलाक़ात होगी तो आप भी यही लहज़ा इख़्तियार कर लेंगे। अख़लाक़ साहब ने फ़ारसी अदब, अमीर खुसरो, उमर ख़य्याम, बेदिल, ख़ास तौर से 17वीं और 18वीं सदी में 'सबके-हिंदी' के नाम से मशहूर होने वाले फ़ारसी अदब पर ग्रां-क्रद़ काम किया है। बहरहाल ये ज़िक्र तो बर-सबीले-तज़केरा (बातों-बातों में) आ गया। दर-असल हमने तो किसी और ही गरज़ से क़लम उठाया था।

नज़्म के लै और ताल का ज़िक्र मैं शुरू में कर चुका हूँ, वो दूसरी बात जिसने पहली नज़र में मुझे मुतास्सिर (प्रभावित) किया था वो इस नज़्म की हमागीरी है। छोटी बहर में लिखी जाने वाली इस नज़्म ने, जिस के किसी भी मिसरे में 5 से ज़्यादा लफ़ज़ मुश्किल से मिलेंगे, एक आलम का अहाता किया है।

एक मुसलसल नज़्म होने के बावजूद और इसके बावजूद कि उन बहुत से मसाएल (समस्यायें), तफरीक़ात (विभिन्नताएं), टकराव और तसादुम (लड़ाई) की वजूहात (कारण), जिन की तरफ़ नज़्म इशारा करती है, आपस में एक-दूसरे में इस तरह पैवस्त (जुड़े हुए) हैं कि उन्हें एक-दूसरे से अलग कर के देखा ही नहीं जा सकता, फिर भी नज़्म को ग़ौर से देखें तो उसके 10 अलग-अलग हिस्से हैं, चाहें तो आप उन्हें मुख़लिफ़ (विभिन्न) अबवाब (भाग) की सूरत में भी देख सकते हैं या उनकी शिनाख़्त ज़ुल्म और धोखे के एक पेचीदा निज़ाम (सिस्टम) के मुख़लिफ़ मुहर्रिकों (प्रेरकों) की शक़ल में कर सकते हैं।

नज़्म की शुरूआत उन पहरों के ज़िक्र से होती है जो फ़िक्र (सोच,

चिंतन) पर मुसल्लत हैं। इसके फ़ौरन बाद सिलसिले-वार उन अनासिर (तत्वों) और उन रजअत-पसंद(दक्यानुसी) कुव्वतों की निशानदेही और शिनाख़्त की गयी है जो शा'इर की नज़र में सोच पर मुसल्लत किये जाने वाले इन पहरों की पुश्त-पनाही पर मामूर हैं।

इन अनासिर की फेहरिस्त लम्बी है और इसमें हमारे मुल्क का सियासी निज़ाम, उसको चलाने वाले, वो लोग जिन के ज़ह्न फ़िक्क से ख़ाली हैं, वो जो आज भी सफ़ेद-फ़ामों (ग़ोरों) की बरतरी को कुबूल करने वाली ज़हनियत का शिकार हैं, (हालाँकि बज़ाहिर जिस सिम्त ये इशारा है, वो मेरी राय में मुबालेगा है) मुल्क और मुल्क के तमामतर बाशिंदों के हुक्क़ (अधिकार) और मुल्क की तमामतर दौलत को उनके हाथ गिरवी रखने को तैयार हैं। फिर साम्राजियत है, (यहाँ तप्सील की कमी कुछ खटकी), शहरों में बसने वाले दानिशमंद हैं, वो एलीट हैं जो अवाम की ख़ैरख़्वाह होने का दम भरती है मगर असल में दादे-ऐश दिया करती है और मुफ़लिसों (गरीबों) के साथ हमदर्दी का ढोंग करती है, क़ाएदीने-मज़हबो-मिल्लत (धार्मिक नेता) हैं, धर्माचार्य हैं और भाँति-भाँति के फ़िक्कों के रूहानी (अध्यात्मिक) सरदार हैं जो अक्ल पर पड़ने वाले परदे बुनते हैं, ये सब हैं और अदालतें हैं जिन में इन्साफ नहीं मिल सकता, जहाँ मज़लूमों की आवाज़ नहीं सुनी जाती।

जब नज़्म का मसविदा मैंने पढ़ा था और जब अख़लाक़ साहब ने मुझे मेल किया, इस दौरान उस में कुछ इज़ाफ़े हुए थे जिन्होंने नज़्म को और ज़्यादा धारदार बना दिया था, एक कमी मुझे खटक रही थी वो काफी हद तक उस इज़ाफ़े के साथ दूर हो गयी है जो अब मुझे मौसूल हुआ है। साम्राजियत के बारे में जो हिस्सा था वो अब पहले के बनिस्बत कहीं ज़्यादा मुसबत (सकारात्मक) हो गया है और औरतों को जायदाद समझने के हमारे रवैय्ये की निशानदेही बहुत मुनासिब तरीके से की गयी है।

एक ऐसी फेहरिस्त जिस की इन्तहा कहाँ है, ये नहीं कहा जा सकता, किसे शामिल करें किसे न करें किस का नाम लें किसका न लें, बक़ौल फ़ैज “दुश्मने-जाँ हैं सभी सारे के सारे क़ातिल”।

ये नज़्म इन तमामतर क़ातिलों और जान के दुश्मनों के ख़िलाफ़ ग़ैज़ो-ग़ज़ब का, गुस्से का, ऐलान-नामा है।

दिल है पुर-गुबार अपना
ज़ह्न में भी तूफ़ाँ है
लब, जबान, शोले हैं
चश्म-चश्म हैराँ है

गुस्सा इसलिए कि ये वो हैं जो हमारी मुश्तारिका (साझी) विरासत, हमारी तहज़ीब (सभ्यता) और तमहुन के दुश्मन हैं। ये अवाम के दुश्मन हैं, जमहूर के दुश्मन हैं, मुल्क की तमामतर दौलत पर क़ाबिज़ हैं और अवाम को नित-नये भेस में ठगते हैं।

शा'इर की परेशानी सिर्फ़ ये ही नहीं है के किस-किस को फेहरिस्त में शामिल करे बल्कि ये भी कि किस-किस से इस सब का ज़िक्क़ करे, कौन है जो उसकी बात पर कान धरेगा :

किस के ज़ेहन में डालूँ
किस के होश में फूँकूँ
किस के गोश शुन्वा हों
कौन चश्म दीदः हो
कौन हिस्स हो मुतवज्जहः

नज़्म जैसे-जैसे आगे बढ़ती है, उसके लहजे में जो झुंझलाहट है वो गुस्से में तब्दील होती नज़र आती है। खुश किस्मती से ये गुस्सा “जी में आता है ये मुर्दा चाँद-तारे नोच लूँ” जैसे इन्फ़रादी गुस्से में तब्दील होने के बजाये उस इज्तेमाईयत (सामूहिकता) का ज़हन बन जाता है जो बेहतर मुस्तक़बिल (भविष्य) की ज़ामिन (जमानतदार) है, एक ऐसा इज्तेमाई एहतेजाज़ जो वहाँ परवान चढ़ा :

है जहाँ पे पाबंदी
कहने और सुनने पर
कह के सुन के रोने पर
पलकों के भिगोने पर

एक ऐसे दौर में जब इन्फ्रादियत(individualism) को बनी-नौ-ए-इंसान (मानव-जाति) की हर इज्तेमाई कामयाबी पर फ़ौक़ियत दी जा रही है, एक ऐसे दौर में जब साम्राजियत के खिलाफ सारी दुनिया में अवामी जद्दो-जेहद की कामयाबियों को भुला कर दुबारा साम्राजवाद के साथ समझौते किये जा रहे हैं, ऐसे वक़्त में साम्राजियत और उसकी चपरास में सर-ब-सुजूद (नतमस्तक) रहने वालों के खिलाफ़ अवामी एहतेजाज (रोष) की इस लहर को उन सारे मसायेल (समस्याओं), जिन का ज़िक्र इस नज़्म में हो चुका है, के जवाब की तरह पेश करना बहुत ग़ौरो-ख़ौज़ (चिंतन-मनन) के बाद उठाया गया क़दम है, खास तौर पर इसलिए की अवाम के गुमो-गुस्से के इस इज़हार के ज़िक्र के फ़ौरन बाद नज़्म का आख़िरी हिस्सा आता है जिसमें शा'इर सूफी और भक्ति की रिवायतों (परम्पराओं) के मिसदाक़ (भांति) मन के अन्दर झाँकने की दावत देता है।

ये दावत इसलिए नहीं है कि ये कहा जाये कि अगर हम अपने आप को ठीक कर लें तो सब कुछ दुरुस्त हो जायेगा, बल्कि मन के अन्दर झाँक कर दिल की बात सुनने की ये दावत दर-असल उन तमाम बंदिशों को तोड़ देने की दावत है जिन्होंने हम को एक-दूसरे से अलग किया हुआ है, हमें अपनी ही खुद-साख़ता शिनाख़्तों (स्वयं गढ़े हुए पहचान) का गुलाम बना दिया है और इस हद तक हमारी अक़्लों पर परदे डाल दिए हैं कि हम खुद अपने-आप से भी जुदा हो गये हैं। इन बंधनों को तोड़े बग़ैर कोई रास्ता नहीं मिलेगा :

तेरी मेरी ये फ़िक्रें

मकड़ियों के जाले हैं

इन जालों को तोड़े बग़ैर आज़ादी नहीं है, सोच पर पड़े हुए परदे हमें खुद ही नोच फेंकने होंगे, जब तक हमें मुन्क़सिम (विभाजित) करने वाले इन पर्दों को नोच फेंकने के लिए हम नहीं उठ खड़े होते तब तक सोच पर लगे हुए पहरे भी बरकरार रहेंगे।

ये नज़्म दूध के उबाल वाला गुस्सा नहीं है, ये एहतेजाज है दक्रयानूसी ख़यालों की गिरफ्त, सरमायादारी, सामराजियत, किज़्बो-रिया (झूठ और

ढोंग), जबरो-जुल्म, ना-इंसाफी और इस्तेह्सा़ल (शोषण) के निज़ाम (सिस्टम) के खिलाफ़, एक ऐसे निज़ाम के खिलाफ़ जो खयालात (विचारों) और तसव्वुर (कल्पना) को कैद कर लेता है, जो सोचने की कुव्वत को मा'ऊफ़ (बेकार) कर देता है।

क्या ही अच्छा होता अगर सामराज की रेशा-दवानियों (साजिशों), खास तौर पर मशरिके-वस्ता (मध्य-पूर्व) में, इराक़ में, अफ़्ग़ानिस्तान में, उसकी हरकतों का कुछ और ज़िक्र होता और बर्रे-सगीर (भारतीय उप-महाद्वीप) में ज़मींदाराना निज़ाम और क़स्बाती (छोटे शहर और गाँव) एलीट का भी कुछ ज़िक्रे-ख़ैर (चर्चा) होता।

ये और हो जाता तो फिर मेरे पास कहने को कुछ न होता। शायद इसीलिए ये छोड़ दिया था अख़लाक़ साहेब ने, उम्मीद है अगले संस्करण में शामिल कर लेंगे और मेरे इस क़िस्म का मजमून लिखने के बाद वो मेरी ना-अहली के क़ायल हो जायेंगे और अगले संस्करण का पेशलफ़ज लिखने के लिए मुझ से नहीं कहेंगे। मेरे साथ आप भी दुआ कीजिये, वरना फिर कुछ ऐसा ही पढ़ना पड़ेगा।

—सुहेल हाशमी

(लेखक, चिन्तक और फिल्म-निर्माता)

sohailhashmi@gmail.com

अनुक्रम

दो शब्द	7
भूमिका	15
सोचने पे पहरा है!	25
नये मिलेनियम के नाम!	51
बदल दो इस निज़ाम को!	54
दास्ताने-मज़्लूमी	56
मज़लूम का तराना	57
गज़ल	58
गज़ल	59
पज़मुर्दा	60
गज़ल	62
तल्ख़ हक़ीक़त	63
बीवी	65
शबे-ख़ामोश	67
शहरे-क्रांतिल	71
शबे-जुल्मत	72

ज़हरे-नेफ़ाक़	73
बेमा'ना चेहरे	74
सितम की सियासत	76
ज़ेहनों के फ़साद	77
ग़ज़ल	79
गीत	81
सरहद-पार की महबूबा	83
पेशावरनामा	85
जगन्नाथ आज़ाद के नाम	87
तन्हाई	88
आह! अखिलेश मिथल साहब	90
दुनिया	91
ग़ज़ल	92
ग़ज़ल	93

सोचने पे पहरा है!

अब जबकि ये कोशिश नज़रे-क्रारयीन (पाठक-गण को भेंट) है, इसके हवाले से सिर्फ इतना अर्ज है कि ज़ाहेरी कालबुद (शक्ल, रूप) के पसे-पुश्त (पीछे) फ़िक्रो-एहसास (चिंतन और भावना) की ला-तादाद माअनवी (अर्थपूर्ण) तहें पिन्हां (छिपी हुई) हैं। इसलिये तफ़्हीम (समझने) के नुक़तये-नज़र से बैनुस्सुतूर (Between the line) ज़्यादा क़ाबिले-तवज्जोह है। ये बर-बनाये कमाल नहीं, बल्कि बयाने-मतलब् और इज़हारे-मा-फ़िज़्ज़मीर (अन्तः मन के उल्लेख) से आजिज़ (असमर्थ) रहने के सबब है। आज सूरते-हाल इंसानी क़द्दरों (मानवीय मूल्यों) के ज़वाल (पतन) से आगे बढ़कर तहज़ीबी अनासिर (सभ्यता के मूल तत्वों) के सोकूत (अंत) तक आ पहुंची है। ये आह, शरहे-दर्दे-दिल (हृदय-पीड़ा का वर्णन) नहीं, नेदाए-जरस (चेतावनी गर्जना) है।

रश्क है आसाइशे-अरबाबे-ग़फ़लत पर 'असद'
पेचो-ताबे-दिल नसीबे-खातिरे-आगाह है।

(ग़ालिब)

सोचने पे पहरा है
उस दियारे-यारां¹ में
जिस की नन्ही दुनिया में
जश्न हम मनाते थे
फ़िक्र के तज़ाहुर² का

1. दोस्तों के इलाक़े में 2. अभिव्यक्ति।

वज्द³ पर तफ़ाख़ुर⁴ का
मस्तियों पे जोबन के
बे-हिजाब चिलमन पे
आज वां पे पहरा है
फ़िक्र के दलालों का
अक़्ल के एजेन्टों का
सभ्यता के पालों का
ऊँची-ऊँची दीवारों
और बन्द दरवाज़ों
के हिसार में बैठे
जुल्मों के भक्तों का
जो के पिछली सदियों से
कर के नूर से दूरी
पुर-फ़रेब तारीकी
के गुलाम बन बैठे

अब जो झांकते हैं हम
अपनी-अपनी फ़िक्रों में
लेख की लकीरों में
दूसरों के नैनों में
चिन्तनों के चिन्तन में
सब के दिल के आँगन में
ऐसा लगता है जैसे
पुर-शबाब कलियों पर
मकड़ियों ने जालों की
और फ़िज़ा ने धूलों की

और न जाने किस-किस ने
किस तरह के पर्दों की
सरहदें बनाई हैं
जो के रोके बैठी हैं
रौशनी की किरनों को
जो नवेद⁵ देती है
सुब्ह-दम के आने की
फ़िक्र को जगाने की
जुल्मों के नर्ग़ों⁶ को
दूर कुछ भगाने की

पर सवाल अब ये है
बे-हिजाब किरनों को
उन हिजाबों की तह तक
कौन ले के जायेगा
पहरा कब हटायेगा
पर्दा कब उठायेगा
नज़्शा कब दिखायेगा
पुश्ते-पर्दा क्या-क्या है
सोचने पे पहरा है!

देखता हूँ मैं तुमको
देखता हूँ मैं सब को
देखता हूँ सब मन्ज़र
देखता हूँ बहरो-बर
देखता हूँ खुश्को-तर

3. नशा, मस्ती 4. गर्व।

5. संदेश, ख़बर 6. घेराव।

देखता हूँ अपनों को
 देखता हूँ गैरों को
 देखता हूँ आँखों को
 देखता हूँ 'बातों' को
 हर तरफ को हर जा को
 मख़्ख़ी-ओ-हवैदा को
 रक्से-सामरी हर जा
 हर जगह हवस पैदा
 हर जगह फ़ना हावी
 फिर भी बे-हिंसी तारी
 मर्ग हर तरफ रक्साँ
 हर कोई तहे-दौराँ
 ख़न्दा-ज़न है वो यज़्दां
 है ये किस का सब सामां
 बारे-ज़िन्दगी क्यों कर
 बाँध लाया अब जाकर
 ज़र्फ़ सारे ख़ाली हैं
 अक़ल सब मआली हैं
 चश्मे-वा का धोखा है
 बेबसी का हीला है
 किस तरह बताऊँ मैं
 आईना दिखाऊँ मैं
 रंगे-जेहल फैला है
 सोचने पे पहरा है।

इक बुते-फिरंगी को
 जिस तरफ जिधर देखो
 अब खुदा बनाया है

तख़्त पे बिठाया है
 हिन्द के अमीरों ने
 अक़ल के फ़कीरों ने
 वक़्त के असीरों⁷ ने
 जो नहीं समझते हैं
 बे-बसी के आंसू कब
 बे-कसों की पलकों पर
 किस तरह ढलकते हैं
 भूख की तडप क्या है
 दर्द-वरंज क्या शै⁸ है
 हिन्द का भरम क्या है
 कल की क्या थीं सौगन्धें
 धर्म आज का क्या है
 जानते भी होते तो
 गिरवी रखते चौखट पर
 वक़्त के पुजारी हैं
 जो हमारे लोगों की
 आस्था के ताजिर⁹ हैं
 हम शरीफ लोगों को
 तमा¹⁰ जिन को ज़र की है
 डर न कुछ ज़र¹¹ की है
 वह मुहासरे¹² में हैं
 घर के अन्दर और बाहर
 अन्जुमन¹³ में ख़लवत¹⁴ में
 घाव उन पे गहरा है
 सोचने पे पहरा है!

7. क़ैदी 8. चीज 9. व्यापारी 10. लालच 11. चोट, घाटा 12. घेराबन्दी 13. सभा, संगठन 14. अकेले।

सुन लो हिन्द के लोगो
अब भी गर न जागे तो
सोच के ही घबराऊं
बोलने पे पहरा है!

यह जो दर्सगाहें¹⁵ हैं
केर्म-खुर्दा,¹⁶ बोसीदा¹⁷
जह्नों की इमारत हैं
वां पे कुछ बसीरत¹⁸ है
और न कुछ बसारत¹⁹ है
है हुजूम हर जानिब
भीड और हंगामा
शोर और तमाशा है
रोटियों के टुकड़ों को
पाने का दिलासा है
वो शरर²⁰ नहीं दिख्ती
माथों की लकीरों पे
जिस की तेज से चमकें
अन्धकारों के कोने
इश्क़ पर उदासी है
जुस्तजू है पज़्मुर्दा!²¹

जो अमीने-दानिश²² हैं
इल्म की विरासत के
ज्ञान के धरोहर के
उन के मग़ज़ ख़ाली हैं

सोच के अनासिर²³ से
भर गई हवा उस में
ख़ारजी हवाओं की
जिस को कुछ समझते हैं
और नशे में उस के ही
मस्त-मस्त रहते हैं
क्या बताऊं क्या हालत
हो गई है विज्दा²⁴ की
ज़फ़्²⁵ की, ज़राफ़त की
सदियों की विरासत की
क्या कहूं के कहने में
इक ज़रा सा पर्दा है
सोचने पे पहरा है!

आज के जो शा'इर हैं
वहशतों के चाकर हैं
मज़लिसों के जोकर हैं
मनसबों के नौकर हैं
फ़िक्र से मुबर्रा हैं
रंजो-दर्दो-जज़्बों से
बे-कसों के सदमों से
इल्मो-आगही से भी
और जमाले-फ़न से भी
उनके शे'र और नज़्में
हर अदा से ख़ाली हैं
ज़ुल्मतों की थाली हैं

15. शिक्षण एवं शोध संस्थान 16. दीमक लगा हुआ 17. सड़ा-गला 18. सोच
19. दृष्टि 20. चिंगारी 21. बुझा हुआ, उदास 22. विधुता और ज्ञान रखनेवाले।

23. तत्वों 24. शोध, खोज, विवेक 25. विवेक, समझ, हौस्ला।

गुमरहों में खुदरौ हैं
 ऐसी शा'इरी का क्या
 जो के हक़ से आरी हो
 और नूरे-दानिश से
 दर्दमंदी-ए-दिल से
 दूर हो के जारी हो
 शेरियत की गुमराही
 फ़िक्र के तजरूद को
 अन्दरूँ की जुल्मत को
 शे'र कौन कहता है?
 सोचने पे पहरा है!

और जो ये सियासत है
 गाँवों की, मुहल्लों की
 सूबों की, सभाओं की
 भेड़ - चाल हर-जा है
 फ़िक्र से ही ख़ाली है
 और कुछ अगर है तो
 झूठ की गुलामी है
 और हवस-परस्तों की
 वहशियों, दरिन्दों की
 हर जगह हुकूमत है
 जज़्बों के मुलम्मा में
 नफ़रतों के शरबत को
 आस्था के रंगो - बू
 डाल कर पिलाते हैं
 और ग़रीब, बेचारी
 तंगी और बदहाली
 झेलती रईअत की

बे - बसी बढ़ाते हैं
 लूट - लूट उन के हक़
 उन के चेहरों की रौनक़
 और रंगों के ख़ून उन के
 और तन के मांस उन के
 चूस-चूस पीते हैं
 नोच-नोच खाते हैं
 इनको क्या कहा जाये
 बे-परो के गिध हैं ये
 चंगुलों में जिन के अब
 आप भी हैं और हम भी
 और ज़िन्दगी सब की
 दहशतों के नरग़े में
 और क्या बताऊँ मैं
 जानते हो तुम भी सब
 देखते हैं हम भी सब
 देखती हैं सब आँखें
 सुन रहे हैं सब-के-सब
 फिर भी क्यों है ख़ामोशी
 क्यों है बे-हिंसी तारी
 क्यों हवा है सहमी-सी
 बोलते नहीं हैं क्यों
 इस का राज़ गहरा है
 सोचने पे पहरा है!

आलमी²⁶ सियासत भी
 खेल सामराजों का

26. विश्व

बुत-गरों²⁷ का आजर²⁸ का
जो के बुत बनाते हैं
इस्तेआरों²⁹, रूपों का
मुखलिफ़ नमादों³⁰ का
और जोड़ कर उन को
भोले-भाले लोगों से
उन के सीधे जज़्बों से
लब पे उठते नारों से
और न जाने किस-किस से
जाल ये बिछाते हैं
और खेलते उस से
खेलती है सब दुनिया
बे-खुदी के आलम में
क्या अजब तमाशा है
करते खुद ब्राहीमी³¹
आज़री³² भी खुद करते
देखो इस मदारी को
और सब जमूनों को
और न जाने किन-किन को
खोल आँखें फिर देखो
रंग खूँ का गहरा है
सोचने पे पहरा है!

और ये जो दानिशमन्द³³
और सफ़ेद-पोशाँ हैं

कहते हैं 'एलीट' जिनको
और जो कि शहरों में
बस गए हैं अब आकर
उन में सब हैं और सब के
तरजमां, नुमाइन्दे
मख़मली बिछौनों पर
और फ़िज़ा मुअ़त्तर³⁴ में
आतशीं गिलासों को
हुस्न के फ़रेबों में
डूब कर हिलाते हैं
खुद जो ग़र्ज़-मस्ती³⁵ हैं
आ के सब घरोंदों में
झूट, मक्र के क्रिस्से
खुशनुमा अदाओं से
जब बयान करते हैं
हम जो सादा-लौही³⁶ के
मख़मसों³⁷ में बसते हैं
वाह-वाह करते हैं
और पर्दा गिरता है
पुश्ते-पर्दा महलों में
नीम-उर्या³⁸ हालत में
शह्वतों³⁹ की ख़लवत में
भूल - भाल कर सब कुछ
आप पर और हम पर भी
एक अदाए-हैरत⁴⁰ से
कुछ अजीब लहज़ों में

27. मूर्तिकार 28. पैगम्बर इब्राहीम के पिता जो मूर्ति बनाने के लिए प्रसिद्ध थे, मूर्तिकार
29.(मेटाफ़र) 30. (मेटाफ़र) 31. मूर्ति तोड़ने का काम जो मूर्ति विरोधी होने के कारण
इब्राहीम करते थे। 32. मूर्तियाँ बनाने का कार्य जो आजर करते थे। 33. बुद्धिजीवी।

34. सुगन्धित 35. मस्ती में डूबे हुए 36. सादगी, भोलेपन 37. भर्म 38. अर्धनग्न
39. भोग-विलास, लालसा 40. अचम्भे वाले अन्दाज़ में।

क्रहक्रहे उड़ाते हैं
 कुमकुमे तअईयुश⁴¹ के
 महलों में, उताक्रों⁴² में
 सुख-व-शीरीं होंठों पर
 आतशीन कुर्बत⁴³ में
 फल्सफ़े, नज़रिये सब
 और उसूले-इन्सानी
 खाकदान में रख कर
 जिस्म के तसव्वुर⁴⁴ में
 रख के सर थका-मांदा
 डूब-डूब जाते हैं
 और सुक्र-व-मस्ती⁴⁵ ये
 कैसे गुल खिलाती है
 कुछ न हम से पूछो ये
 क्या बताऊँ कैसा है
 सोचने पे पहरा है!

और ये नुमाइन्दे
 मज़हबों के, मिल्लत के
 भाँत-भाँत शक्तों में
 रंग-रंग रूपों में
 और वज़ा-क्रता⁴⁶ ऐसी
 जैसे खुद ही ख़ालिक ने
 आसमाँ से भेजा हो
 और कलाम उन से हो
 राज़े-दहर-व- यज़ूदां⁴⁷ का

और जो भी चाहें ये
 अहद के ग़लाज़त की
 और खुदा के आशिक़ ये
 भक्ति - भाव के मूरत
 आरिफ़ाने- वहदत⁴⁸ ये
 साकेनाने- जन्नत⁴⁹ ये
 आसताने-दुनिया⁵⁰ पर
 सज्दा-रेज़⁵¹ रहते हैं
 इज्जतमा⁵² में फ़िलों को
 ख़ल्क⁵³ करते रहते हैं
 मक्र से ये आलूदा⁵⁴
 झूट के पुजारी हैं
 दहर के भिखारी हैं
 क्रातिलों के हमदम हैं
 रहज़नों के महरम⁵⁵ हैं
 जुल्मों के ताजिर हैं
 जुल्म के मसीहा हैं
 और न पूछो क्या-क्या हैं
 टूटने पे मस्कन है
 बोलने पे क्रदग़न⁵⁶ है
 देख कैसी दुनिया है
 सोचने पे पहरा है!

और जो अदालत है
 बे-अदालती⁵⁷ की जड़

41. भोग-विलास, ऐश 42. कमरों 43. अग्नियुक्त निकटता 44. ध्यान 45. नशा
 46. रहन-सहन, पहनावा 47. ब्रह्माण्ड और उसके रचयिता का रहस्य।

48. ईश्वर के रहस्य के ज्ञानी 49. स्वर्ग में रहने वाले (के योग्य) 50. दुनिया की चौखट
 51. नतमस्तक 52. समाज 53. रचना, बनाना 54. लिप्त, प्रदुषित 55. राज़दार
 56. पाबन्दी 57. अनन्याय, नाइंसाफी।

जुल्म की मुजाविर⁵⁸ है
 और जो के मज़लूमों
 और जो के महकूमों⁵⁹
 और सारे मजबूरों
 और उन के चश्मे-नम⁶⁰
 और आहो - गिर्या⁶¹ से
 पल रही है दिन-दिन ये
 बे-हिंसी का मख़ज़न⁶² है
 सो रहे हैं क़ाज़ी⁶³ सब
 चीख़ की मिनारों पर
 ज़ब्र की फ़िज़ाओं में
 क्या बताएँ क्या हैं ये
 देख अश्क़े-मिज़गाँ⁶⁴ को
 और फिर समझ ले तू
 मैं न कह सकूँ अब कुछ
 जानकुश⁶⁵ ये नज़शा है
 सोचने पे पहरा है!

अब जो ये हुकूमत है
 सैम के एजेंटों की
 आई एम एफ़ दलालों की
 सामराजी बनियों की
 बिक गए वकीलों की
 अक्रल और इमाँ को
 गिरवी रखने वालों की

58. साथी, सहयोगी, संरक्षक 59. आम जनता, रियाया, मातहत 60. भीगी-आँखें
 61. रोना, विलाप करना 62. स्टोर हाऊस, भण्डार गृह 63. जज 64. पल्कों पर ठहरे
 आंसु 65. जानलेवा।

दार पर चढ़ा कर सब
 दुम हिलाने वालों की
 और जिन की परछाई
 हर जगह नज़र आती
 आफिसों में, दफ़्तर में
 हाकिमों के कालर में
 ख़बरों और मज़्मूँ के
 हफ़्ते-सद-मुकरर में
 कैसे गुल खिलाती है
 ज़हर क्या पिलाती है
 आज की हुकूमत ये
 सामराजी वहशत ये
 गर सुनो तो ये कह दूँ
 मुल्क पर नुहसत ये
 खोल आँखें फिर देखो
 बात बात को परखो
 जुल्म कैसा बरपा है
 सोचने पे पहरा है!

और जो मीडिया है ये
 इन में अक्सरियत को
 बे-दरेग़ कह डालो
 आज की तवाएफ़ है
 बे-इया है, बेसवा है
 बे-ज़मीरी शेवा है
 चंद सिक्कों की ख़ातिर
 नाच नंगा करती है
 सच को ये छुपाती है

झूठ को बढ़ाती है
 मौत के जो ताजिर हैं
 देश के जो दुश्मन हैं
 खुद-गुरज़ हैं, क्रांतिल हैं
 उन के इक इशारे पर
 बे-हयाई के नग्मे
 रोज़-रोज़ गाती है
 शर्म बेच कर के ये
 ऐश-मौज करती है
 अपना पेट भरती है
 और इस ख़बासत पर
 जुल्म पर, ज़लालत पर
 पर्दा डाल रख़ा है
 सोचने पे पहरा है!

और ये जो ताजिर हैं
 जो मक्कीने-आजिर हैं
 उँचे-उँचे महलों में
 शीशों के घरौंदों में
 मस्ते-ऐश रहते हैं
 आसमाँ में बस्ते हैं
 आस-पास हैं जिन के
 बस्तियाँ, गली-कूचे
 बदबू और तअफ़्फ़ून है
 ज़िंदगी जहाँ हर दम
 खुद ही से पनाह मांगे
 हसरतों, कराहों की
 सिसकियों की मख़ज़न है

ज़िंदगी अजीरन है
 और उस से बढ़ कर ये
 ख़ौफ़ का घना साया
 उँचे-उँचे महलों का
 हर घड़ी ही छाया है
 रौशनी छलावा है
 ये ख़रीदते सब कुछ
 जान और ईमां को
 आदमी को, इंसां को
 हाकीमो-रय्यत् को
 सोच को, सियासत को
 हर गुले-गुलिस्तां को
 सारे ही शबिस्तां को
 उनके आरज़ूओं से
 फ़िक्र से, ख़यालों से
 हौसलों, तमन्ना से
 और सदाये-अंक्रा से
 बुए-खून आती है
 वहशियत भी डरती है
 गुर्गे-सामराजी का
 आज ये नया चेहरा
 वह्शि-ओ-फरेबंदा
 चश्मे-वा का धोखा है
 सोचने पे पहरा है!

बात जब भी ज़न⁶⁶ की हो

66. नारी, औरत

ज़िक्र फिर न तन का हो
 और न धन का मन का हो
 सच मगर तो ये है के
 औरतें हमारी ये
 जो भी शक्लो-सूरत हो
 माँ कि बेटी बीवी हो
 घर का एक सामां है
 तौलते तराजू पर
 घर के अन्दर और बाहर
 मेले और महलों में
 पर्दे पर, हिजाबों में
 गाँव हो के शहरों में
 फ़क्र⁶⁷ में अमारत⁶⁸ में
 शुहरतो-सियासत में
 शे'र और मजूमूं में
 दास्ताने-पुर-खूं⁶⁹ में
 हैं हदफ़⁷⁰ हवस की ये
 क़ल्ल इनका होता है
 इब्तेदा से आख़िर तक
 बातियों से ज़ाहिर तक
 है ज़मीर क्या अपना
 कैसी अक़ल मिल्लत⁷¹ की
 किस तरह समझ पायें
 किसको-किसको बतलाएं
 जेहलो-जब्र फैला है

67. गरीबी, दीनता 68. अमीरी, सत्ता 69. खून से लिप्त कहानी 70. निशाना, मकसद
 71. राष्ट्र, समाज, समुदाय।

सोचने पे पहरा है!

सतूहे-आलमी⁷² पर अब
 एक तूफ़ाँ उठ्ठा है
 नील के किनारे से
 क़ाहिरा की सड़कों पर
 सुन रहे हैं आवाज़ें
 बाज़ग़श्त⁷³ की उस के
 शहरों और क़रयों⁷⁴ में
 मुल्कों और गोशों में
 बे-कसों के ज़हनों में
 बे-बसों की आँखों में
 इस तरफ भी और वां भी
 है जहां पे पाबन्दी
 कहने और सुनने पर
 कह के सुन के रोने पर
 पल्कों को भिगोने पर
 हो के आतिशे-जज़्बा
 डूब-डूब के सदमा
 शोलों में बिखरते हैं
 महलों और तख़्तों को
 ठोकरो से रौंदे हैं
 अब न ठहरेगा तूफ़ां
 साहिले-समन्दर तक
 जब के सिकन्दर तक
 जब तलक बदल दे वो

72. विश्व 73. लौट के आने वाली आवाज, इको 74. गाँवों।

शाहो और शैखों के
 जुल्म की लकीरों को
 और सब मुकद्दर को
 अब कोई न कह पाए
 बोलने पे जंजीरें
 सोचने पे पहरा है
 सुन लो शर्क-वालो⁷⁵ अब
 वरना जागोगे फिर कब
 तुम से कोई गोया है
 बस यही तरीका है!

हर तरफ है क्या फैला
 खौफ़ का घना साया
 खौफ़ दिल में, आँखों में
 खौफ़ सब की बातों में
 खौफ़ सब के विज्दां पर
 खौफ़ हर्फ़े-इम्काँ पर
 खौफ़ है ख़्यालों में
 खौफ़ सब की चालों में
 खौफ़ सारे रिश्तों में
 खौफ़ मन के मस्तों में
 घर हो या के बाहर हो
 दफ्तरों का मंज़र हो
 कारकुन के अफसर हों
 मालकन के नौकर हों
 फ़र्द हो के रइय्यत हो

या कोई हुकूमत हो
 क़त्ल हो गए सारे
 खौफ़ के ही सब मारे
 खौफ़ क्यों हुआ हावी
 क्या हुए हैं आसाबी
 है कोई जो बतलाये
 खौफ़ के हैं क्यों साये
 हम को क्यों नज़र आती
 बा-वफ़ा भी हरजाई
 हम को क्यों डरा जाते
 खुशबुवों के ये झोंके
 कौन सी है तबदीली
 आ गई है जो अब के
 तेरी मेरी फ़िक्रों में
 कब से अब यहाँ चल के
 छा गयी है ज़हनों में
 सब के खूँ में, ख़लियों में
 खौफ़ ही है दामन-गीर
 कौन लायेगा अक्सीर
 किस ने इसको समझा है
 सोचने पे पहरा है!

ज़िक्र किसका-किसका हो
 किसको-किसको ना देखें
 किस से किस से मुंह फेरें
 हर तरफ ही जुल्मत है
 किस की बात ना छेड़ें
 दिल है पुर-गुबार अपना

75. पूरब वालों

जेहन में भी तूफ़ाँ है
 लब, ज़बान शोले हैं
 चश्म-चश्म हैरां है
 हूक मन में उठती है
 होश-होश वीरां है
 इन्जेमादो-⁷⁶ मदहोशी
 हर तरफ परेशा⁷⁷ है
 किस के ज़हन में डालूँ
 किस के होश में फूँकूँ
 किस के गोश⁷⁸ शिन्वा⁷⁹ हों
 किस के चश्म दीदा हों
 कौन हिंस⁸⁰ हो मुतवज्जह
 कौन दिल सरापा हो
 कब मिटेगी तारीकी
 कौन आँख बीना हो
 कब ज़बान बोलेगी
 कब ये लब को खोलेगी
 कब ये लोग देखेंगे
 कब ये पर्दा उड़ेगा
 कब ये नूर चमकेगा
 कुछ तो सोचो ऐ लोगो!
 होश में ज़रा आओ
 हर निशानी मिटती है
 पुरखों के नजाबत की
 सभ्यता, सक्राफ़त⁸¹ की
 इल्म की, अदालत की

हिल्म की, फ़ज़ीलत की
 हर निशान अज़्मत⁸² की
 अब न पूछो क्या कहना
 इस ज़बान से अब के
 जिस के पा⁸³ में जंजीरें
 दस्त में सलासिल⁸⁴ हैं
 यह न पूछो ये क्या है?
 सोचने पे पहरा है!

और अब सुनो ये भी
 क्या है अपनी कमज़ोरी
 जानते भी हो ये के
 सोचा है कभी तुम ने
 क्यों गुलाम हैं तेरी
 फ़िक्र और तमन्नाएं
 वक्रत के बवंडर का
 झूट का, मुक्रदर का
 क्यों नक्राब ओढ़े हैं
 मजहबों का, मिल्लत का
 कुफ़र⁸⁵ का, बगावत का
 नस्लो- रंगो-मिल्लत⁸⁶ का
 रहबरी का, पैरौ का
 जुल्म का, नजाबत⁸⁷ का
 अज़्मतो-शराफ़त का
 इस तरफ का या उस का

76. स्थिरता 77. फैला हुआ 78. कान 79. सुनने वाला 80. इन्द्राय 81. संस्कृति।

82. गौरव 83. पाँव 84. हथकड़ी, जंजीर 85. इन्कार 86. समप्रदाय, समाज, राष्ट्रीयता
87. शराफ़त, पवित्रता।

हिन्दू का मुसलमान का
 दीन, धर्म, यज़्दों का
 बन्दगी, खुदाई का
 भक्ती और मस्ती का
 हुस्न का ग़लाज़त का
 पाकी-व-नजाबत का
 सब ये ज़ाहिरी पर्दे
 झूठ के नुमाइन्दे
 रासती⁸⁸ के दुश्मन हैं
 फिर भी उस के पीछे क्यों
 उस की आड़ में बैठे
 उस की क़ैद के पाबन्द
 हो के जीते-मरते हैं
 क्यों न दिल की सुनते हैं
 क्यों ज़मीर क़ैदी है
 क्यों है अक़ल पर पहरा
 क्यों है हिस सलासिल में
 क्यों हिसार में विज्दाँ
 क्यों है इश्क़ पर क़दग़न
 ज़ाहिरी लिबासों का
 चिल्मनों नक्राबों का
 कब मिलेगी आज़ादी
 हम को अपने ज़ाहिर से
 और गुबारे-खातिर⁸⁹ से
 अन्दरूँ को बाहर से
 क्यों न ढूँढते हैं हम

88. सच्चाई 89. दिल अथवा मन का गुबार अथवा कुंठा।

दिल में डूब कर अपने
 हस्ती की हक़ीक़त को
 सोचते नहीं हैं क्यों
 क्या जो रंग मेरा है
 और कोई मज़हब है
 और कोई क़ौमियत
 और कोई ख़ित्ता है
 या कोई नज़रिया है
 या कोई मेरा पेशा
 ख़ानदान है कोई
 जिस से मैं हूँ वाबस्ता
 और मिल के ये सब कुछ
 बांटते हैं टुकड़ों में
 मेरे सब सरापा को
 मेरे ये ज़वाहिर सब
 आप के भी और उनके
 तन को मन को घेरे हैं
 और ये सभी पर्दे
 ऊँची-नीची दीवारें
 और सब लिखी धारें
 मुझ से मुझ को छीने हैं
 सारे मेरे दुश्मन हैं
 झूठ से बना सब कुछ
 मक्र का ये आलम है
 और मैं यही सब हूँ
 फिर बताओ मैं क्या हूँ?

हम गुलामे-तन होकर

ज़ाहिरी तमाशों का
 बन गये हैं इक क़ैदी
 जागते भी, सोते भी
 ख़्वाबों और ख़्वालों में
 ख़ाहिशों के जमघट और
 चाहतों के मह्वर⁹⁰ का
 ये समाज, ये दुनिया
 इन की रीत और रस्में
 झूट के अनासिर से
 ये बनी हुई क़द्रे
 उन की कोख से निकलीं
 तेरी-मेरी ये फ़िक्रें
 मकिड़ियों के जाले हैं
 हम मगस⁹¹ हैं बेचारे
 आरजू जो करते हैं
 तोड़ दें ये जंजीरें
 और सब सलासिल को
 पर ये क्या बताएं हम
 हथ्र कैसा होता है
 सोचने पे पहरा है!

तोड़ सारे बन्धन को
 जोड़-जोड़ दस्तो-सर
 जागने का वक्त आया
 रास्ता ये तेरा है
 बस यही वसीला है!

(25-27 जनवरी 2011 ई.)

90. कील, धुरा, धूरी 91. मक्खी।

नये मिलेनियम के नाम!

यह सदी ख़त्म हुई
 इससे पहले भी न जाने कितनी सदियाँ
 इसी नुक्तए-इनज़ेबात¹ पर आकर
 दम तोड़ती रही हैं जनाब!
 मगर सच तो यह है कि वक्रत
 बग़ैर तवक्कुफ़² बग़ैर दम साधे
 क़दम बढ़ाए चला जा रहा है आगे को
 निज़ामे-गर्दिशे³-दौराँ, जहाने-रोज़ो-शब⁴
 जो था पिछली सदियों में
 वही है जो छुप गया अब के
 वही जुल्म रवा, क़त्लो-खूनो-आहो-बुका
 वही निज़ामे-सितम सिक्कए-रवाँ इमरोज़⁵
 वही खून रवाँ आज के रगों में है
 के जिससे खून के प्यासों की बू है आती रही
 वही है धूप में शिद्दत कि जिस में तप-तप कर
 झुलस रहा है जवाँ-सालो-पीर-ज़न⁶ का वजूद।
 ज़ब्र की चक्की में पिसते हुए इन्सानों की

1. ख़ास मुक़ाम, मील का पत्थर 2. बिना रुके हुए 3. ज़माने की गर्दिशे 4. रात-दिन की दुनिया 5. आज प्रचलित मुद्रा 6. बूढ़ी महिला।

जिंदगी बदली न हालात अभी बदले हैं
फ़क़त बदलती रही रोज़ो-शब कि गिनती ही
फ़क़त बदलता रहा, जुल्म की सूरत का नक्राब!

अभी भी दौरे-शराबो-शबाब महलों में
जहाँ पे नंगे ज़ेहन लोग रक्खस^{6(A)} करते हैं
जहाँ पे नंगे बदन का मज़ाक़ उड़ता है
किसी यतीम के आँसू से फेर के नज़रें
किसी बेवा की जवानी को घूर लेते हैं
बना के हुस्न को मजबूर अपनी महफ़िल में
सिसकती लाश से दम-भर सुरूर लेते हैं

अभी भी क़सूरे-इक्तेदार⁷ की जड़ें हैं अमीक़⁸
नज़र-फ़रेब⁹ रौशनी में बैठ कर के जहाँ
जहाँ के झोपड़ों के खुश्क-खुश्क तिनकों को
जला-जला के तापने की फ़िक़र करते हैं
जहाँ कि मारने की फ़िक़र ही में मरते हैं
पिला-पिला के सुलाने की फ़िक़र करते हैं
कि जुल्म करके भुलाने की फ़िक़र करते हैं
अभी भी बज़्मे-जहाँ जुल्मतों के नरगे में
इसी जहाँ की मुक़द्दस¹⁰ इमारतों में मकीं
किसी शम्ए-गिरयाँ¹¹ के सामने बैठे
जहाँ की जुल्मतों पे ज़शन किया करते हैं
अँधेर कर के ये रक्खस किया करते हैं
इसी रसम की बक्रा गर तुम्हें प्यारी है

यही शोरो-सदा गर तुम्हें पसंद है तो
अगर तुम्हारी ज़रूरत यही कराहें हैं
दबी सदा में फ़रयाद अच्छी लगती है
अगर नहीं जो तुम में सूझ-बूझ दुनिया की
अगर नहीं जो तुम्हें रैरत अब गुज़श्ता पर
अगर नहीं है जो तुम में जोश और हिम्मत
कि उतार डालो इसी पल नक्राब सदियों का
तो तुम को हक़ है कहूँ मैं तुम्हें हज़ार दफ़ा

मेरे भाई। तुझे यह साले-नौ मुबारक हो!
मेरे भाई! तुझे यह क़र्ने-नौ¹² मुबारक हो!
मेरे भाई। तुझे मिलेनियम मुबारक हो!
मगर यह सच है बुरा मानना न ऐ भाई!
तेरे कफ़स¹³ के वीराने में जो भी बसता है
भटकती रूह है बेशक किसी दरिंदे की!

(31 दिसम्बर 1999 ई.)

6(A). नृत्य 7. सत्ता का महल 8. गहरी 9. आँखें चौंधियाने वाली 10. पवित्र
11. रोती हुई शमा।

12. नई सदी 13. पिंजरा।

बदल दो इस निज़ाम को!

(1)

वो चाहते हैं इन सभी सदाओं को दबा तो दें
मेरे वजूद की जो धड़कनें हैं वो बुझा तो दें
मगर वो आग, दिल में जो लगी है मानती नहीं
बुझे वो पहले जुल्म से, कभी वो चाहती नहीं
ये जुल्म है के हर तरफ बढ़ाये अपने जुल्म को
सितम का राज हर तरफ बढ़ाये इस तिलिस्म को
मेरी नज़र में बस यही, उखाड़ दें बिसात को
पछाड़ दें गुर्रर को, निखार दें निशात को
चलो चलो ये वक्रत है बदल दें सब निज़ाम को
ये जुल्मों के राज को, नहूसतों के जाम को
ये वहशतों के, ज़ब्र के, निराज के ख़राम को
ये इनके चलते-फिरते सामराज के निज़ाम को

चलो चलो बदल तो दें ये जुल्म के निज़ाम को
चलो चलो मसल तो दें ये ज़ब्र के ख़राम को
निज़ाम को, ख़राम को
बदल तो दें, मसल तो दें
चलो चलो चलो चलो
बदल दो इस निज़ाम को!

(2)

बदल दो इस निज़ाम को
बदल दो सब अवाम को
बदल दो इस समाज को
बदल दो काम-काज को
मसल दो तख़्तो-ताज को
मिटा दो सामराज को
मिटा दो इनके शोर को
मरोड़ इनके ज़ोर को

जो जुल्म करके खो गए
जो खून पी के सो गये
वो इज़्ज़तों को लूट के
हमें भी नोच खा गये
हमारे घर को, द्वार को
जला गये, मिटा गये
मिटा दो उनके राज को
मसल दो तख़्तो-ताज को

(24 अक्टूबर 2012)

दास्ताने-मज़लूमी

कहाँ हैं अहले-हवस, इक़तेदार के भूखे
कहाँ हैं जुल्म के दायी¹, जफ़ा के कारिन्दे
कहाँ हैं ऐश में ग़क्राब, ख़्वाब में ग़ल्ता²
वो कैसे क्रस्रो-इमारत के जिस में ये पिन्हां
सदाये-आहो-कराहे-अवाम कौन सुने
कहाँ पे जा के सुनायें ये दास्ताने-हज़ी³
कि गुशे-कर् सभ्नी मुंसिफ़, मलिक के हम देखें
बताओ क्या करें हम गर न सीना-कोबी⁴ करें
हुसैन आज भी मज़लूम और यज़ीद? अमीर!

(1 जनवरी 2012 ई.)

मज़लूम का तराना

जब गुस्सा मेरा फूटेगा
जब गुस्सा तेरा फूटेगा
फिर जुल्मो-सितम की दीवारें
गिर जाएंगी, मिट जाएंगी
ये हुक्म के बंदे, ये हाकिम
ये बे-हिस, बे-दिल, ये ज़ालिम
आक्रा के इशारों पे नाचें
बेकस के पीछे ये भागें
हम उन का राज मिटायेंगे
हम सारे ताज गिरायेंगे
ये ताज और राज, ये जुल्मो-सितम
मिट जायेंगे, ये नक्श रक़म
मिट जायेंगे, मिट जायेंगे
जब गुस्सा मेरा...

(29 अक्टूबर 2012 ई.)

1. प्रचार करने वाले 2. लत-पत 3. दुखद कहानी, 4. सीना पीटना।

ग़ज़ल

मैं महफ़िले-हयात¹ में हैरान-सा रहा
हर एक की निगाह में अंजान-सा रहा
कुछ कर सका न शाम तलक राहे-शौक़ में
हर पल, हर एक ग़म पे बेजान-सा रहा
पलकें उठाके देख सका मैं न एक बार
मेरा ख़िरद² जुनूँ³ का निगहबान-सा रहा
राहे-हयात में न मिली एक पल खुशी
ग़म का य' बोझ दोश⁴ पे सामान-सा रहा
बूए-गुलो-समन⁵ की तरह इस जहान में
'आहन' तमाम उम्र परेशान-सा रहा

(20 अक्टूबर 1997 ई.)

ग़ज़ल

लगा के आग बुझाने की बात करते हो
फफोले दिल में सजाने की बात करते हो
नहीं समझते मेरी हालते-दरूँ¹ को तुम
फ़क़त जो करते, बहाने की बात करते हो
सुनाऊँ मैं जो कभी हाल अपनी उल्फ़त का
सुबूत मुझ से दिखाने की बात करते हो
गुज़ार कर मैं यहाँ आया हूँ शबे-जुल्मत²
करम न करके जलाने की बात करते हो
जो पूछता हूँ कभी बेरुखी की मैं इल्लत³
बना के बात बनाने की बात करते हो
कभी सितम पे जो भरता हूँ आह तब भी तो
मेरे लहू में नहाने की बात करते हो
तेरे हुज़ूर में आया जो 'आहने' बेबस
पिन्हा के बेड़ी न ले जाने की बात करते हो

(16 जून 2005 ई.)

1. ज़िन्दगी की महफ़िल 2. बुद्धि, अक़ल 3. दीवानगी 4. काँधा 5. फूलों की महक।

1. मनोदशा 2. अंधेरी रात 3. कारण।

पज़मुर्दा¹

जबकि मेरा बचपन था
हम-उम्र के लड़कों को
तितलियों कि खातिर तब
वे-तड़ाशा भागते हुए
टकटकी लगाए मैं
फूलों और कलियों को
नन्हें-नन्हें हाथों में
टूटते, बिखरते मैं
यूँ ही देखा करता था
गर्दिशे-फलक ने मगर
आरजू तमन्ना को
इस तरह से मसूला था
तोड़ा और मरोड़ा था
बचपने को खोकर मैं
मौत की तमन्ना में
भागा-भागा फिरता था
अब के जब जवाँ हूँ मैं
गिरदो-पेश² का माहौल
आस-पास की दुनिया
है बहुत हसीं लेकिन

नाज़नीनों के नखरे
मह-जबीनों के गम्जे³
दोस्तों का अल्हड़पन
दिल को नहीं भाता है
इस हुजूमे-मर्दुम⁴ में
खुद को तन्हा पाता हूँ
ज़िंदगी से डरता हूँ!

(25 अप्रैल 1998 ई.)

1. उदास, मुरझाया हुआ 2. आस-पास 3. नखरे 4. लोगों की भीड़।

गज़ल

हम आज बज़्मे-रक़ीबाँ¹ से सुर्ख़-रू आए
ये है अजीब कि अब वो भी हू-ब-हू आए
है कौन याँ जो नहीं ज़ामो-मै का शैदाई
ये कब हो आप ही चलकर कहीं सबू² आए
सभी ने जान दी तेरी गली में ऐ हमदम
किसे मजाल कि अब तेरे रू-ब-रू आए
तेरे फ़िराक़ में हम ने बहाए अश्के-जिगर
ये सब ने चाहा मगर आए तो लहू आए
है अब कहाँ वो वफ़ा और वो वफ़ा-केशी³
वो और वक़्त था, हम देख कू-ब-कू आए

(13 जून 2007 ई.)

1. प्रतिद्वंद्वियों की महफ़िल 2. सुराही, घड़ा 3. वफादारी।

तल्ख़ हज़रीक़त

एक लड़का सड़क के किनारे
दिलदोज़¹ आवाज़ में यह पुकारे
भगवान के नाम पे कुछ भी दे दो ज़रा
मैं उधर से ही गुज़रा
दिल में ये सोचा
है सब बनावट, ग़लत, रेडिक्यूलस।
क्यों न लड़का आराम करता है साये में जाकर
कौन-सा बेतुका खेल ये खेलता है
मगर
जब मैं बाज़ार में जाके उतरा
अचानक धमाका हुआ
मैं और मेरी बीवी के चिथड़े
सुतून² और दीवारों से लटक कर
मेरे ज़ख्मी बच्चे को
हसरत से तकने लगे
और मेरी रूहे-आवारा
सड़क के किनारे
उसी लड़के के साथ

1. दिल को दुःखी करने वाली 2. खम्भा।

जब अपने बच्चे को देखती है
तो फिर सोचती है
कि वो बात
जिसको न समझा, न जाना, न बूझा
थी कितनी बड़ी-सी हकीकत!

(अगस्त 1998 ई.)

बीवी

समझता हूँ मैं क्यों उसको
फ़क़त¹ एक जादए-राही²
फ़क़त एक तख़्तीए-तमरी³
कि जिस में हिंस नहीं अपनी
न अपनी कोई ग़ैरत है
न अपना कोई अंदेशा
न अपनी कोई आदत है
फ़क़त है जो वजूद उसका
मेरे आराम की खातिर
मेरे हर दुःख में ये रोये
हँसे बस मेरी ही खातिर
न जज़्बा उसका अपना है
न कोई उसका सपना है
मेरा ही बस तसव्वुर है
मेरा ही नाम जपना है
मैं ऐसा सोचता क्यों हूँ
वो एहसासात से आरी⁴
न उस में जान होती है

1. मात्र 2. मुसाफिर का सामान 3. अभ्यास करने की तख़्ती 4. वंचित, ख़ाली।

न उसका दिल मचलता है
 न मन उसका तरसता है
 अकेली बैठी है घर में
 खलाओं में कहीं खोई
 मुक़ैय्यद^१ घर में, आंगन में
 कभी घबराई, सहमी-सी
 वो थक कर चूर है अब तो
 घुटन की ज़िन्दगी उसकी
 यह सब कुछ है, मगर उसको
 वही करना जो मैं चाहूँ
 वो मेरे पाँव धोएगी
 जो थक करके मैं घर आऊँ
 सजाए रुख़ पे हर शब वो
 हँसी, मुस्कान, शादाबी
 मेरे अरमानों के नीचे
 कुचल कर मरती-जीती है
 वह हरदम अशक पीती है
 मगर फिर भी वह हँसती है
 जो पूछोगे, बताऊँगा
 वो मेरी अपनी बीवी है!

(20 अगस्त 2002 ई.)

शबे-ख़ामोश

ये शब कितनी है ख़ामोश!
 मेरी उस बहना की तरह
 जिसने माँ की ममता खोकर
 दामन में एक दीप जलाए
 आशाओं, उम्मीदों का
 गई पराए घर को वो
 भीख माँगने खुशियों की
 नहीं मिली वो खुशी वहाँ पर
 घुट के सारे अरमाँ उसके
 सीने में ही दफ़न हुए
 फिर देखा जो मैंने उसको
 सन्नाटा, ख़ामोशी थी
 दामन पर कुछ अशक के क़तरे
 मोती जैसे चमक रहे थे
 जैसे घास पे शबनम्!

ये शब कितनी है ख़ामोश!
 पड़ोस की उस लड़की की तरह
 जिसको मैं बचपन ही से
 प्यार से 'दीदी' कहता था

बड़े अदब से मिलता था
 जिस को मैं बचपन से अपने
 स्वेटर बुनते
 रूमालों पर फूल बनाते
 घर-आँगन में झाड़ू देते
 अकसर देखा करता था
 कभी-कभी वो मुझे पकड़ कर
 गोद में थी अपने बिठलाती
 खट्टे-मीठे क्रिस्से सुनाती,
 फिर कुछ ऐसा मौसम बदला
 देखा मैंने उसको अब के
 उसी दुवारे
 झाड़ू देते
 मुझे देख के कुछ ना बोली
 ऐसी चेहरे पर वीरानी
 जैसे खिज़्रों में आम का पेड़।

ये शब कितनी है ख़ामोश!
 मेरी उस भाभी की तरह
 जिसका शौहर
 नशे में धुत
 रात गए आया करता था
 काम नहीं वो कुछ करता था
 फिर लोगों ने समझाया था
 मान गया वो
 चला गया फिर रोज़ी कमाने
 पार समुंदर
 कोसों दूर

सालों बाद आया करता था
 अब आया है घर पर रहने
 अब के बिल्कुल बदल गया है
 घर-घर में उसकी नेकी के
 अब तो ज़िक्र हुआ करते हैं
 अब सारी शब नफ़ल नमाज़ों¹ मस्जिद में पढ़ता रहता है
 और सारा दिन खा-खा कर वो क़ैलूला² करता रहता है
 या चौराहे पर बैठे वो सब को दर्स दिया करता है

ये शब कितनी है ख़ामोश!
 साहब की मैडम की तरह
 पिछले सालों-सालों से
 तन्हा-तन्हा रहती हैं
 दर पर अपने बैठे-बैठे
 आते-जाते लोगों को वो
 अक्सर देखा करती हैं
 अब भी उनके चेहरे पर
 माज़ी³ की है वो परछाई
 जिसके पीछे
 दीवानों की भीड़-सी रहती
 सब से हँस कर मिलती थीं वो
 सबका दिल बहलाती थीं वो
 पर साहब को लिफ़्ट न देतीं
 साहब ने ग़ैरत के मारे
 मूंद लीं आँखें अपनी।
 ये शब कितनी है ख़ामोश!

1. वो नमाज़ जिसके न पढ़ने से कोई हर्ज नहीं 2. दोपहर में सोना 3. भूतकाल।

शहर की उस लड़की की तरह
 जो इक हुस्न की मूरत है
 फ्रैशन की एक सूरत है
 उसकी आँखें जादू हैं
 जुल्फें पुर-अज़ ख़शबू हैं
 क्रद है क्रयामत, तन मस्ती है
 हुस्नो-अदा की वो पुतली है
 पढ़ी-लिखी और पैसे वाली
 आज्ञादी भी पंछी जैसी
 कमी न जाने परछाईं भी
 सुख है हर सू, बड़ी सुखी भी
 यह सब कुछ है पर है उदासी
 जेह्न पे दिल पे छाई हुई सी
 ख़ालीपन का साया मन पर
 नीरसपन हावी जीवन पर
 आँसू आते बिन कारण ही
 देखे हर सू बंजारन सी
 क्या है, किसको खोजे है वो
 किसकी चाहत में रोये वो
 खुद भी न जाने क्या चाहे है
 जाए कहाँ वो? ना जाने है
 अजब कसक है, अजब है उलझन
 तड़पे जैसे ज़ख्मी नागन
 घुटने पर सर रख बैठी है
 रोये रोये बस रोये है।

(12 मार्च 1999 ई.)

शहरे-क्रातिल

ऐसा लगता है कि ज़िंदाँ¹ बुला रहा है मुझे
 ऐसा लगता है घुटन भर गई है शहरों में
 ऐसा लगता है गुनाहों का बोलबाला है
 ऐसा लगता है कि क्रातिल ने कुदेता² कर दी
 ये सोचता हूँ मैं घबरा के अब तो हर लम्हा
 मिटा के कोई गुनह चल बसूँ मैं ज़िंदाँ में
 हाँ वो ज़िंदाँ के जहाँ कुछ हैं बेकुसूर भी बंद
 हाँ वो ज़िंदाँ कि जहाँ कुछ कुसूरवार भी हैं
 सुनाई देती है मुझको यही सदा हरदम
 गरीबो-बेकसो-बेबस पे ये ज़मीं है तंग
 ये रेगो-सहरा-ओ-कुहसार³ का दामाँ ही नहीं
 ये शहरो-क्रयाँ, ये गुलशन, ये बयाबाँ ही नहीं
 खुद अपने तन ही में क़ैदी बना तड़पता हूँ
 खुद अपने दोश⁴ पे खुद अपनी लाश उठाए हुए
 यह हाल है कि हर एक सिम्त फिरता रहता हूँ।

(2001 ई.)

1. क़ैदख़ाना, जेल 2. तज़्तापलट 3. रेगिस्तान, जंगल और घाटी 4. कंधा।

शबे-जुल्मत¹

हिज़्र² की रात गुज़रती ही नहीं
कब तलक बज़्म पे तारीकी रहे
कब तलक शूमिए-क्रिस्मत³ का गिला
कब तलक दर्द के बढ़ने की फ़ुग़ाँ
कब तलक बेकसी का शिकवा रहे
कब तलक बेबसी का नाला⁵ रहे
कब तलक होंगी रवाँ⁶ ये हालतें
कब तलक छाई रहें ये जुल्मतें
नूर उठता है मगर क्या कीजिये
जुल्म की काली घटा चार सू⁷ है

(जनवरी 2009 ई.)

ज़हरे-नेफ़ाक़¹

मेरी हालत पे ज़रा रहम करो
मुझको छोड़ो, मुझे सँभलने दो
मैं तो जीता रहा हूँ मक्कतल में
मेरे जज़्बात बस तड़पते हैं
सर-बुरीदा² ये खून में लतपत
ईसतादा³ है और इक दुनिया
वहशियाना हँसी लिए लब पर
मुझसे दादे-सितम की ख़्वाहिशमंद
मैं मनो खाक में गड़ा अब तक
ज़हरनाकी से इस हँसी की अब
बे-तसलसुल⁴ तड़पता रहता हूँ
मौत से मौत माँगता हूँ मैं!

(31 मई 2002 ई.)

1. अंधेर की रात 2. बिछड़न, वियोग 3. बदक्रिस्मती 4. विलाप 5. विलाप, रोना
6. जारी 7. तरफ़।

1. दोगलेपन का ज़हर 2. सर कटा हुआ 3. खड़ा हुआ 4. रूक-रूक के।

बेमा'ना चेहरे

अपनी इक् खिड़की पर बैठे
आते-जाते, फिरते-फिरते
लोगों का चेहरा पढ़ता हूँ
चेहरों के शे'री सनअत' में
अक्सर मैं ढूँढ़ा करता हूँ
लफ़्ज़ों और मा'नों की सदाक़त ।
सजे-सजाए उन चेहरों में
सारे लफ़्ज बलाग़त^१ भी हैं
पर ये समझ में मेरे न आया
इन शे'रों में जान भी है क्या?
दिल तो है अरमान भी हैं क्या?
चलते हुए संदूक ही हैं या
उनमें कुछ सामान भी हैं क्या?
लोगों की बस भीड़ ही है या
उनमें कुछ इन्सान भी हैं क्या?
ऐसे सवालों की बौछारें
खिड़की से आया करती हैं
मन को तड़पाया करती हैं

1. फ़न, अदा 2. सजावट ।

मैंने पूछा इर्द-गिर्द से
मैंने पूछा छत से, ज़मीं से
शहरी से और सहरा-नशी^३ से,
पर मेरे आंगन का एक गुल
मुस्का के कुछ कान में बोला
मैं सुन के साकित, ख़ामोश!

(30 नवम्बर 2002 ई.)

3. जंगलवासी

सितम की सियासत

वही जिहालत, वही गरीबी, वही फ़लाकत¹, वही नक्राहत²
है भूख से पेट अब भी चिपका, वही नज़ारा, वही जमाअत
वही है चेहरों पे बेबसी सी, वही है आँखों में बे-तमानत³
सियासतों के अदल-बदल से, नहीं बदलती सितम की आदत
वही रज़ालत, वही शराफ़त, वही तमाशे, वही सक्राफ़त⁴
ये खेल सदियों से चल रहा है, बदल-बदल के लिबासे-नुदरत⁵
यह लोग रंगों से खेलते हैं, हो रंगे-क्रिमिज़⁶ या रंगे-आबी⁷
कहीं पे सब्ज़ और ज़ाफ़रानी, कहीं सियह, तो कहीं गुलाबी
कहीं पे रंगे-तजरुदी⁸ है, कहीं पे चम-चम, कहीं शराबी
कहीं पे रंगे-ज़मन⁹ उड़ा है, कहीं पे चेहरों पे आबो-ताबी
वही शरारत है फैली हर-जा कि जिसके साए मैं फैली जुल्मत¹⁰
ये खेल सदियों से चल रहा है बदल-बदल के लिबासे-नुदरत
(27 जून 2003 ई.)

1. दीनता 2. कमज़ोरी, शारीरिक दुर्बलता 3. बेचैनी 4. संस्कृति 5. अनोखा लिबास
6. लाल 7. नीला 8. सादा रंग, बेरंगी 9. ज़माने का रंग 10. अन्धकार।

ज़ेहनों के फ़साद¹

ये फ़सादात तेरे और मेरे ज़ेहनों के
कब तलक खूने-वतन के रंगों में बहते हुए
यूँ मुहब्बत से ज़रा देख भी न पाएँगे
कब तलक नफ़रतों के तुख्म² दिल के वीरों में
वहशी³ घासों की तरह उगते-बढ़ते जाएँगे
कब तलक आदमी की ज़ात तेरी नज़रों में
ये बनाती हुई बे-मा'ना-सी लकीरों पर
और नज़रों पे गिरे पर्दा-ए-रंगी से पढ़े जाएँगे
कब तलक इस ज़मीने-पाक और मुहब्बत पर
बुद्ध के, चिश्ती के, गुरु नानक और बुल्ले के
प्यारे-प्यारे से ख़यालात तोड़े जाएँगे
और औहाम⁴ की, नफ़रत की, बेहयाई की,
कितनी दीवारें गुलिस्ताँ में खींची जाएँगी
कब तलक हज़ूरते-ईसा जहाँ में दोबारा
कभी यू.पी. में, कश्मीर में, हरयाणा में
हाँ, आसाम में, गुजरात में और आंध्रा में
कभी काबुल में, फिलिस्तीन में, अंकारा में
हाँ, वियतनाम में, बग़दाद और बुखारा में

1. खुराफ़ात, झगड़ा 2. बीज 3. जंगली 4. अंधविश्वास।

कभी अपनों, कभी गैरों से दार^१ पर जाएँ?
कब तलक बन के यूँ ही बेहिंसी की मूरत हम
कब तलक खाएँगे यारो! फ़रेबे-अहदे-जुनूँ
कब तलक अपने गुलिस्ताँ में ख़ार बोएँगे?!

(28 अगस्त 2004 ई.)

ग़ज़ल

मैं उनकी क़रूँ कैसे बातें, उनने तो मुझे बर्बाद किया
दुनिया भी उजाड़ी है मेरी, खुद शाद हुए, नाशाद किया
अब उसके यासो-हिज़राँ^१ में, क्यों ग़म का समंदर मौज न ले
जो जानो-दिल के दुश्मन थे, उनको उसने आबाद किया
हर मंज़िल पर नाकामी है, दुःख दर्द है और बदनामी है
क्या पूछते हो क्या ख़ामी है, हक से मुझ को बेदाद किया
पज़मुर्दा^२ उमंगें, पलकें नम, दिल दर्द से पुर, आँखें पुर-नम^३
हर-जा, हर-सू, है ग़म ही ग़म, दिल उजड़ा था बरबाद किया
क्या वक़्त पड़ा है ये मुझ पर, खाता हूँ मैं ठोकर अब दर-दर
ये कैसी मुसीबत आई है, क्यों अपनों को सैय्याद^४ किया
है जोरो-सितम याँ क़दम-क़दम, हर वक़्त है लुटता अपना भरम
जो पलकें बिछाते थे हर दम, ये वक़्त उन्हें जल्लाद किया
हर सिम्त है याँ दौलत का नशा, फ़रमान यहाँ ताक़त का चला
ये है सादा-लौही की सज़ा, बे-आब किया, बे-बाद किया
ये रिश्ते-नाते अपनापन, ये घर आँगन, यह मुल्को-वतन
चाहे अपनी हो या सौतन, मायूस किया, जब याद किया
माज़ी के है ग़म से दिल यह रूँधा, यारों न तो बस आँसू ही दिये
मैं जिस से मिला उसने तो मुझे सद्मात दिये, नाशाद^५ किया

5. फाँसी का तख़्ता

1. यास=दुःख, हिज़राँ=वियोग 2. मुर्झाई हुई 3. भीगी हुई 4. शिकारी 5. दुःखी, हतास ।

हम कहते रहे जिसको अपना, वह अपना नहीं बेगाना था
 उसने ही जलाया यह खिर्मन⁶, मौक़े ने उसे जल्लाद किया
 इसको न उजाड़ो बहरे-खुदा⁷, खूँ देके सजाया है इसको
 ये दशते-जुनूँ⁸ है ख़ाना-ए-मन⁹, मैंने ही इसे आबाद किया
 ये दुनिया है बस दारे-मिहन¹⁰, क्यों ज़ेहन परेशाँ है 'आहन'
 जब भी हो मुसीबत साया-फ़गन, बस अल्लाह को ही याद किया
 (31 अक्टूबर 1995 ई.)

6. घर, घोंसला 7. खुदा के लिए 8. दिवानगी का जंगल 9. मेरा घर 10. दुःख की जगह अथवा दुनिया।

गीत

नैना बोले, अँगुरी डोले, तब यह दिल खाए हिचकोले
 काहे नज़रिया की ले कटरिया आवे इधर को हौले हौले
 बरसे बदरिया, तरसे बहुरिया, झूमे कमरिया, चमके बिजुरिया
 चोटिया के रसिया में बाँध के मनवा, तड़पावे है और ना खोले
 नींद ना आवे, रात सतावे, बिस्तर काटे, जियरा फाटे
 तकिया ले सीने से साटे, काश तू अपने पास सँजोले
 इस बन में रहती एक जोगन, जिस के बस में है मेरा मन
 जिस पे निछावर है ये तन-मन, कोई कुछ भी बोले-बोले
 नील गगन आकाश है देखे, मेघा रोए, घाटी सिसके
 चिड़ा-चिड़ी जा कहे है सब से, कोई राह है अपनी भूले
 मन में कोई शोर मचावे, भोर तलक वो मुझे जगावे
 तन-मन में एक आग लगावे, पर मुख से कुछ भी ना बोले
 लगे है ऐसा मैं मर जाऊँ, साँस जो लूँ तो ले ना पाऊँ
 करहूँ, काखूँ और चिल्लाऊँ और डरूँ कोई ना सो ले
 ये शिमला की गहरी वादी, पेड़ के साए, सूखी माटी
 मन और तन के बीच में घाटी, अंतर-मन के भेद न खोले
 बरफ गिरे है एक चोटी पर और सुनहरी धूप कहीं पर
 आँख में आँख जो मैं डालूँ तो उटूँ हैं शोले, बरसें ओले
 है हंगामा घर-बाहर में, शोर मचा है नगर-नगर में
 धूम-धड़क्का खूब डगर में, शहर में बस हैं मेले हिंडोले

लोग यहाँ पर बड़े हैं ज्ञानी, ज्ञान का करते हैं रस-पानी
कुछ बस करते आना-कानी मन के काले, मुख से भोले
मैं शर्माऊँ कह न पाऊँ और घबराऊँ, दिल धड़काऊँ
'आहन' को अब कैसे मनाऊँ, जान को जोखम में ले डोले
(14 जून 2005 ई.)

सरहद-पार की महबूबा

क्या बताऊँ कि कितना खुश हूँ आज
देख के तेरी तस्वीर को मैं
नक्शे-माज़ी का एक रौशन अक्स
जाज़िबो¹ दिलकशो-खंदानो² मस्त
दावते-सोज़ो-साज़³ देता है
समते⁴ अफ़शाए-राज़⁵ देता है
ऐसा लगता है बनके ताए⁶ में
तेरी तस्वीर की हक़ीक़त तक
तेरी खुशबू के दोश⁷ पे बैठे
मैं चला आऊँ तेरी कुर्बत तक
पर हैं मजबूर मेरे दस्तो-पा
है अजब ये असीर⁸, नक्शे-वफ़ा⁹
सरहदें, दूरियाँ, क़ानूने-जहाँ
ऐसी संगीन, ऐसी सख़्त हैं कि
सैले-जज़्बात¹⁰ तोड़ ना पाए
हिदते-दिल¹¹ जिसे न पिघलाए

1. आकर्षक 2. आकर्षक और हंसमुख 3. जलने और संगीत का अथवा दुःख और
हर्ष का आमंत्रण 4. रास्ता, तरफ़ 5. राज़ का खुलना 6. चिड़िया 7. कंधा 8. कैदी
9. वफ़ा का अस्तित्व 10. भावनाओं की बाढ़ 11. दिल की गर्मी।

पर ये दूरी भी ऐसी दूरी नहीं
 अब भी ताज़ा हो मेरी यादों में
 अब तलक तेरी सदाए-दिलकश¹²
 मेरे कानों में खनखनाती है
 अब तलक तुझ से बातें करता हूँ
 अब भी नगमे मुझे सुनाती हो
 धड़कनें धड़कनों में हैं पैवस्त¹³
 अब भी हँस के मुझे रुलाती हो
 खोया-खोया हुआ वजूदे-शहीर¹⁴
 हो के गुमनाम तेरी यादों में
 बाद फ़िक्रे-अमीक्रे-इदराकी¹⁵
 इसी अंजाम पे है पहुँचा कि
 दूरीए-वक्तो-दूरीए-अर्ज़ी¹⁶
 कुर्वते-दिल से सिमट जाती है
 शौक्रो-जज़्बा-व-फ़िराक्रो-विसाल
 एक नुक्ते में हुए जाते हैं ज़म¹⁷।

(10 दिसम्बर 2002 ई.)

पेशावरनामा

हमने भी पेशावर देखा
 क्रिस्मत को बार-आवर¹ देखा
 पख़्तूनों की नर्मी देखी
 और जज़्बों में गर्मी देखी
 खेतों में हरियाली देखी
 गाँवों में खुशहाली देखी
 शहर में रंगा-रंगी देखी
 महफ़िल में खुश-रंगी देखी
 ब्रिटिश राज का साया देखा
 मुग़लों का सरमाया देखा
 कुहना² रंग दरखशाँ देखा
 जिदत³ को मेहर-अफशाँ⁴ देखा
 शान जहाँ की सर पर देखी
 अमूनो-अमाँ हर दर पर देखी
 इल्मो-अदब की बर्कत देखी
 हिल्म, मुहब्बत, शफ़ूक़त देखी
 चेहरे याँ नूरानी देखे
 खुश, खुर्रम, शादानी देखे

12. मनमोहक आवाज़ 13. मिला हुआ, धंसा हुआ 14. प्रसिद्ध 15. गहरे चिन्तन
 16. धरातल की दूरी 17. विलय, विलीन।

1. फलदायक 2. पुराना 3. आधुनिकता 4. स्नेह बरसाती हुई।

खुशहाली अर्जानी⁵ देखी
 वुसअते-दिल⁶ इमकानी⁷ देखी
 पीरो-जवाँ और खुर्दो कलाँ⁸ भी
 शादो-नाखुश, नौहा-कुनौ⁹ भी
 आलिम, जाहिल, आक्रिल, दाना
 शाइर, टीचर, पीर, तवाना
 सीधे-सादे, शातिर-वातिर
 हिन्दू-मुस्लिम, मोमिन, काफ़िर
 आबिद, ज़ाहिद, फ़ासिक¹⁰, वासिक¹¹
 साजिद, शाहिद, हाजिक¹², आशिक
 मस्त-कलरंदर, शाहो-गदा भी
 नौकर, मालिक, नेक, बुरा भी
 सब की है यकूसाँ रफ़्तार
 सब पहनें क़ुर्ता-शलवार
 ऐसा मसावी¹³ कहाँ समाज
 कहाँ मिले यह नेक रिवाज
 ख़ास यहाँ का, ख़ास यहीं का
 हर जा साया अरशे-बरीं का
 मेहमानों पर मरते ये हैं
 हर-दम जान छिड़कते ये हैं
 ये सब मिल-जुल कर रहते हैं
 सच्चाई का दम भरते हैं
 फिर इनकी बदनामी क्यों है?
 इनसे ना इंसाफी क्यों है?

(जुलाई 2008 ई.)

5. सस्ता 6. हृदय का बड़प्पन, विस्तार 7. संभव-भर 8. ख़ुर्द=छोटा, कलाँ=बड़ा
 9. विलाप करता हुआ 10. पापी, बुरा 11. आश्वस्त 12. विशेषज्ञ, माहिर 13. समतावादी।

जगन्नाथ आज़ाद¹ के नाम

तू असीरे²-शाइरे-मशरिक³, मगर आज़ाद था
 तेरे दम से एक जहाने-फ़िक्रो-फ़न आबाद था
 जब ये टकराई ख़बर मेरी समाअत⁴ से कि तू
 हो गया रुख़सत जहाँ से, मेरा दिल नाशाद था
 तू जलाता ही रहा ता-उम्र शमूए-इल्मो-फ़न
 तुझ से इक जेहलो-दुग़ल⁵ का कारवाँ बरबाद था

(जुलाई 2004)

1. प्रसिद्ध उर्दू कवि और लेखक (1918 ई.-2004 ई.) 2. क़ैदी, admirer 3. पूर्व का
 कवि, डॉ. इक़बाल को कहा जाता है। 4. कान, सुनना 5. अज्ञानत और दोगलेपन।

तन्हाई

(बुजुर्ग अहबाब अखिलेश मिथल, अहमद फराज़, हबीब तनवीर
और साईमन डिगबी की नज़्म)

जब कोई निकलता है इस सफर में तेज़ी से
उसका हर क़दम तन्हा और हर सफर तन्हा
इस सफर में देता है कौन साथ किसका जी
ज़ादे-राह¹ ख़ालीपन और रहगुज़र तन्हा
गर्दिशें ज़मानों की तै हुई हैं तन्हा ही
अफ़ताबो-मिरीखो² कौकबो³-क़मर⁴ तन्हा
अंजुमन जमाते थे, जब सजा के महफ़िल में
बेदिलो-हज़ी⁵ तन्हा, ग़ालिबो-ज़फ़र⁶ तन्हा
हम भी आज तन्हा हैं, हर तरफ है तन्हाई
क़सों-दार⁷ सब तन्हा, गुलशनो-शजर तन्हा
कह रहे हैं मिथल⁸ जी बात भी तजुरबे की
है कहाँ न तन्हाई गोर और घर तन्हा
चल निकल गया अहमद⁹ तंज़ हम पे यूँ कस कर
तुम रहो अकेले जी हम करें सफर तन्हा

1. रास्ते का सामान 2. सूर्य और मंगल ग्रह 3. तारा 4. चाँद 5. महान कवि बेदिल,
हज़ीन, ग़ालिब और ज़फ़र 6. क़स=महल, दार=फाँसी का तख़्ता 7. लेखक अखिलेश
मिथल, (देहान्त 21 नवम्बर 2012 ई.) 8. प्रसिद्ध उर्दू कवि अहमद फ़राज़ (देहान्त
25 अगस्त 2008 ई.)।

आज ये ख़बर आई, मौत ने ली अँगड़ाई
हाँ गया हबीबा⁹ तू छोड़कर खँडर तन्हा
हाए साईमन¹⁰ तूने, आज ये कहा हम से
हाँ चले गये अपने, मैं भी चल दूँ घर तन्हा
क्या हुआ है 'आहन' को आज इस ख़राबे में
ज़ेह्न और दिल तन्हा, सीना और सर तन्हा

(9 जून 2009 ई.)

9. रंगकर्मि हबीब तन्वीर (देहान्त 9 जून 2009 ई.) 10. इतिहासकार साईमन डिगबी
(देहान्त 9 जनवरी 2010 ई.)।

आह! अखिलेश मिथल साहब

वो एक मेरा यार था, वो भी अब चला गया
जो मेरा गुमगुसार था, वो भी अब चला गया
रही थी जिस से दिल-दही, वही नहीं रहा है अब
कि जिस को मुझ से प्यार था, वो भी अब चला गया
वो कैसी आँखों में चमक, वो कैसी बातों में रमक
जो यारे-मै-गुसार था, वो भी अब चला गया
वो गुफ्तगू का राज़दां, वो जुस्तजू का रम्ज़ख़्वाँ¹
नुबूगे-रोजगार² था, वो भी अब चला गया
वो दोस्तों का दोस्त वो, वो दुश्मनों पे जाँ-गुसल³
मुईनो-हम-किनार⁴ था, वो भी अब चला गया
कहाँ पे ढूँढ़ें उसको हम, कहाँ पे पाएँ हम उसे
वही जो बे-क्रार था, वो भी अब चला गया
सभी की आँखों में नमी, सभी के दिल में हूक है
जो सब्र था, क्रार था, वो भी अब चला गया
वो जब था गर्मे-गुफ्तगू, तो बज़्म थी नुमू-नुमू
जो गुल पे हर बहार था, वो भी अब चला गया
वो आशिक़े-अदब, हुनर, वो रह्रवे-नसीम-बर
वो कलियों पे खुमार था, वो भी अब चला गया
गुज़र गया है अबके वो कि जो कि हम-गुज़र⁵ रहा
वही के जो कि यार था, वो भी अब चला गया

(26 नवम्बर 2012 ई.)

1. रहस्य पढ़ने वाला 2. अपने समय का जीनियस 3. सख्त 4. मददगार 5. सफ़र का साथी।

दुनिया

दुनिया ये बेमानी दुनिया
चलता-फिरता पानी दुनिया
किसको किसकी भाई ख़बर है
सबसे है अंजानी दुनिया
बेकस, बेबस, बेजाँ, बेदम
बेहिस ये, बेचारी दुनिया
दुनिया-दुनिया करते-करते
छोड़ गये मुर्दारी दुनिया

(2010 ई.)

ग़ज़ल

तेरी आशनाई से तेरी रज़ा तक
मेरी बात पहुँची है अब इन्तहा तक
वो पहली नज़र, जिस से घाएल हुआ था
वो पहली ख़ता¹ थी, जो पहुँची ख़ता तक
तेरी शोखियों ने भी ज़ुरअत बढ़ा दी
युँही हाथ मेरे न पहुँचे रिदा तक
कहाँ तक तअक्कुब में फिरता रहा मैं
निशाँ तक, ज़बाँ तक, अदा तक, लक्रा² तक
वो जादू अदायें, अदाओं में जादू
ये पहुँचाएँ हमको फ़ना से बक्रा तक
अभी तक वो साज़े-सितम³ बज रहा है
जो पहुँचा था भूले से तेरी सदा तक

(मार्च 2006 ई.)

ग़ज़ल

अकेले - अकेले ही पाली रिहाई
मुझे मारे जाती है तेरी जुदाई
ये आहंगे - नग़मा, ये रंगे - तग़ज़ुल¹
हर-एक चीज़ तेरी ही खातिर रचाई
मेरी जाँ यह कैसा सितम वक़्त का है
है मेरी ही किस्मत में नौहा - सराई²
सितारों की गर्दिश, दिलों का बिछड़ना
ये कैसे खुदा की है कैसी खुदाई
न पूछो अभी हाल 'आहन' का यारो
कभी जाँ ब-लब है, कभी जाँ-फ़िदाई

(8 अगस्त 2009 ई.)

1. तीर छूटना, भूल 2. मुलाक़ात, मिलन 3. अत्यचार का साज़।

1. ग़ज़ल का रंग 2. मातम।

‘सोचने पे पहरा है’ अख़लाक़ ‘आहन’ की एक तवील नज़्म का उन्वान है और उनके पहले शेरी मज़्मूआ का भी। वो नज़्म मज़्मुए में शामिल है।

अख़लाक़ ‘आहन’ की लोकप्रिय पहचान फ़ारसी भाषा-साहित्य के युवा विद्वान की है—वे जवहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में फ़ारसी के प्रोफ़ेसर हैं। यह उनकी शारिख़ियत का एक पहलू है। अख़लाक़ ‘आहन’ की शारिख़ियत का दूसरा पहलू, जिसे वे अब तक सात पर्दों में छिपाते आ रहे थे, इस मज़्मुए के साथ सरेआम है। यानी वे अमीर खुसरो, हाफ़िज़, बेदिल, शामूल, फ़रोग़, फ़र्रुख़ज़ाद की शा’इरी के विशेषज्ञ ही नहीं, खुद भी एक वाज़िद सुख़नवर हैं।

अख़लाक़ ‘आहन’ प्रमुख रूप में नज़्म के शा’इर हैं, मगर उन्होंने समय-समय पर कुछ ग़ज़लें भी कहीं हैं। इन दोनों काव्य-रूपों में उनकी कारदानी यहाँ ग़ौर की जाएगी। मौजूदा दौर की वैचारिक सांस्कृति बेचैनियाँ उनके लगे-लहज़े में जिस तरह अभिव्यक्त हुई हैं, उससे तरक्की पसंद तहरीक के वो दिन याद आते हैं, जब फ़ैज़, सरदार जाफ़री, वामिक़ की नज़्में और मजरूह की ग़ज़लें एक आहंग की तरह हमारी संवेदना में, हमारे खून में बजती थीं-रवाँ थीं। वह आहंग और वो बजना आज ख़्वाबनुमा हो गया है, जबकि दरहक़ीक़त आप उसकी, पहले कभी से, ज़्यादा ज़रूरत है। अख़लाक़ ‘आहन’ के कलाम को उसी नुक्त-ए-नज़र से पढ़ा जाना चाहिए-पढ़ा जाएगा।